



ISSN- ०९७६-८०१७ & UGC Care listed

गुरुकुल-पत्रिका

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिकी मूल्याङ्कित शोध-पत्रिका)

(A Quarterly Peer Reviewed Research Journal of Oriental Studies)

अङ्क ७६.२

अक्टूबर-दिसम्बर २०२४



सम्पादक

प्रो० (डॉ०) ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

संकायाध्यक्ष, शिक्षा एवं प्रशिक्षण संकाय

दूरभाष - ६३९७६३४८६२, ९४१२३०७१२३

E-Mail : gurukulpatrika@gkv.ac.in

गुरुकुल काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार - २४९४०४



सन् १९१९ में अमृतसर में वैशाखी पर्व पर हुए जलियाँवाला
बाग गोलीकाण्ड के पश्चात् इसी गोलीकाण्ड के विरोध
और निन्दा हेतु अमृतसर में ही आयोजित काँग्रेस
अधिवेशन के अवसर पर लिए गए चित्र के
मध्य में स्वागताध्यक्ष के रूप में
विराजमान स्वामी श्रद्धानन्द

ISSN- 0976-2017 & UGC Care listed

गुरुकुल-पत्रिका

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिकी मूल्याङ्कित शोध-पत्रिका)

(A Quarterly Peer Reviewed Research Journal of Oriental Studies)

अङ्क ७६.२

अक्टूबर-दिसम्बर २०२४



सम्पादक

प्रो० (डॉ०) ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

संकायाध्यक्ष, शिक्षा एवं प्रशिक्षण संकाय

दूरभाष - ६३९७६३४८६२, ९४१२३०७१२३

E-Mail : gurukulpatrika@gkv.ac.in

गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार - २४९४०४

।। कुलगीत ।।

(लेखक- पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार)

प्राणों से हमको प्यारा 'कुल' हो सदा हमारा ।
विष देने वालों के भी, बन्धन कटाने वाले ।
मुनियों का जन्म-दाता, 'कुल' हो सदा हमारा ॥ १ ॥

कट जाये सिर न झुकना, यह मन्त्र जपने वाले ।
वीरों का जन्म-दाता, 'कुल' हो सदा हमारा ॥ २ ॥

स्वाधीन्य-दीक्षितों पर, सब कुछ बहाने वाले ।
धनियों का जन्म-दाता, 'कुल' हो सदा हमारा ॥ ३ ॥

निज जन्म-भूमि भारत, को क्लेश से छुड़ा कर ।
गौरव बढ़ाने वाला, 'कुल' हो सदा हमारा ॥ ४ ॥

तन मन सभी न्यौछावर, कर वेद का सन्देश ।
जग में ले जाने वाला, 'कुल' हो सदा हमारा ॥ ५ ॥

हिम-शैल तुल्य ऊँचा, भागीरथी-सा पावन ।
भटकों का मार्गदर्शक, दुःस्त्रियों का हो सहारा ॥ ६ ॥

आजन्म ब्रह्मचारी, ज्योति जगा गया है ।
अनुरूप पुत्र उस का, 'कुल' हो सदा हमारा ॥ ७ ॥

संरक्षक (Patron)

- १ डॉ० सत्यपाल सिंह, सांसद, बागपत लोकसभा व पूर्व केन्द्रीय राज्य मन्त्री, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार
- २ प्रो० (डॉ०) हेमलता के०, कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

सम्पादक (Editor)

डॉ० ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग; संकायाध्यक्ष, शिक्षा एवं प्रशिक्षण संकाय
गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

सह-सम्पादक मण्डल (Co-editors)

- १ डॉ० दिलीप कुमार कुशवाहा, प्रा०भा०इति०सं० एवं पुरातत्त्व विभाग, गु०काँ०वि०वि०, हरिद्वार ।
- २ डॉ० दीनदयाल वेदालङ्कार, वेद विभाग, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार ।
- ३ डॉ० बबलू वेदालङ्कार, दर्शनशास्त्र विभाग, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार ।
- ४ डॉ० वेदव्रत, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार ।

परामर्शदातृ-मण्डल (Advisory board)

- १ प्रो० मानसिंह, पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
- २ प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय, पूर्वसचिव, सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन
- ३ प्रो० शशि प्रभा कुमार, अध्यक्ष, भारतीय उच्च अध्ययन केन्द्र, शिमला
- ४ प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, पूर्व कुलपति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- ५ प्रो० महावीर अग्रवाल, पूर्व कुलपति, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार,
- ६ प्रो० वेदपाल आचार्य, पूर्व प्रोफेसर, सम्पादक- प्राच्यविद्या अनुसन्धानम् एवं परोपकारी पत्रिका
- ७ प्रो० श्रीनिवास वरखेड़ी, कुलपति, केन्द्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- ८ प्रो० वीरेन्द्र कुमार विद्यालङ्कार, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
- ९ प्रो० कमलेश छः चौकसी, पूर्व निदेशक, भाषा संस्थान, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
- १० प्रो० ओमनाथ विमली, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अङ्क के मूल्याङ्कनकर्ता -

१. प्रो० आचार्य बलवीर, संस्कृत, पालि एवं प्राकृतविभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
२. प्रो० ललित गौड़, संस्कृत, पालि एवं प्राकृतविभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

प्रकाशक : कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

व्यवसाय-प्रबन्धक : पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

वित्त-प्रबन्धक : वित्ताधिकारी, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

आर्याभिविनयः

स्तुति विषय

वाय॒वा या॑हि दर्श॒तमे॑ सोमा॒ अर॑ङ्क॒ताः । तेषां॑ पा॒हि श्रु॒धी हव॑म् ॥ ७ ॥

ऋग्वेद अष्टक-१ । अध्याय-१ । वर्ग-३ । मन्त्र-१

व्याख्यान- हे अनन्तबल परेश वायो, दर्शनीय! आप अपनी कृपा से ही हमको प्राप्त हो। हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्यादि) औषधियों का उत्तम रस सम्पादन किया है और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं वे आपके लिये ही "अरङ्कताः" अलङ्कृत अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं, वे सब आपके समर्पण किये गये हैं, उन को आप स्वीकार करो (सर्वात्मा से पान करो)। हम दोनों की पुकार सुनकर जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है, उस पर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हम पर प्रसन्न होओ ॥ ७ ॥

प्रार्थना विषय

पा॒वका॑ नः॒ सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती । य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒या व॑सुः ॥ ८ ॥

ऋग्वेद अष्टक-१ । अध्याय-१ । वर्ग-६ । मन्त्र-१०

व्याख्यान- वाक्पते! सर्वविद्यामय! हमको आप की कृपा से "सरस्वती" सर्वशास्त्र विज्ञानयुक्त वाणी प्राप्त हो। "वाजेभिः" तथा उत्कृष्ट अन्नादि के साथ वर्तमान "वाजिनीवती" सर्वोत्तम क्रिया विज्ञानयुक्त "पावका" पवित्र स्वरूप और पवित्र करने वाली सदैव सत्यभाषणमय, मङ्गलकारक वाणी आपकी प्रेरणा से प्राप्त होके आपके अनुग्रह से "धियावसु" परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्तमान निधिस्वरूप यह वाणी "यज्ञं वष्टु" सर्वशास्त्रबोध और पूजनीयतम आपके विज्ञान की कामनायुक्त सदैव हो, जिस से हमारी सब मूर्खता नष्ट हो और हम महापाण्डित्ययुक्त हों ॥ ८ ॥

स्तुति विषय

पु॒रू॒तमं॑ पु॒रू॒णामी॑शानं॒ वार्य्या॑णाम् । इन्द्रं॑ सो॒मे स॒चा सु॑ते ॥ ९ ॥

ऋग्वेद अष्टक-१ । अध्याय-१ । वर्ग-९ । मन्त्र-२

व्याख्यान- हे परात्पर परमात्मन्! आप "पुरूतमम्" अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रुविनाशक हो, तथा बहुविध जगत् के पदार्थों के "ईशानम्" स्वामी और उत्पादक हो। "वार्य्याणाम्" वर वरणीय परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के भी ईशान हो, और "सोमे" उत्पत्तिस्थान संसार आप से ["सुते"] उत्पन्न होने से ["सचा"] प्रीतिपूर्वक "इन्द्रम्" परमैश्वर्यवान् आपको (अभिप्रगायत) हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, यथावत् स्तुति करें, जिससे आपकी कृपा से हम लोगों का भी परमैश्वर्य्य बढ़ता जाय और परमानन्द को प्राप्त हों ॥ ९ ॥

(महर्षि दयानन्द के ग्रन्थ- 'आर्याभिविनय' से साभार)

अनुक्रमणिका

- १ भारतीय शास्त्रीय ज्ञानपरम्परा के विशिष्ट उद्गाता आचार्य दयानन्द प्रो० ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार १
- २ तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित पाँच महासंहिताएँ प्रो० सरस्वती ९
- ३ लकारार्थ-विमर्श डॉ० अभय सिंह, प्रो० ओमनाथ विमली १८
- ४ वेदों में आयुर्वेद डॉ० कैवर सिंह, डॉ० ब्रह्मप्रकाश ३३
- ५ जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म: वेदान्त दर्शन के ब्रह्ममुनि भाष्य के अनुसार ऋचा, प्रो० (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार ४३
- ६ मनुस्मृति में साक्ष्य एवं उसकी परीक्षा डॉ० जीतेन्द्र कुमार ४८
- ७ वैदिक स्त्रियों का वैविध्यपूर्ण सञ्चरित्र डॉ० रक्षिता ५४
- ८ श्रीमद्भगवद्गीता में निहित कर्मयोग का आध्यात्मिक लक्ष्य (पुरुषार्थबोधिनी टीका एवं शाङ्करभाष्य के विशेष सन्दर्भ में) डॉ० गजानन्द वानखेड़े, नवीन प्रसाद नौटियाल ५९
- ९ कर्म-स्वातन्त्र्य और कर्म-पारतन्त्र्य : एक विश्लेषण डॉ० शालिनी शर्मा ६५
- १० सामवेदीय तत्त्वमीमांसा का ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों पर प्रभाव डॉ० अङ्कुर कुमार आर्य ७१
- ११ वैदिक राष्ट्र अवधारणा (संहिताओं के विशेष परिप्रेक्ष्य में) डॉ० उमा आर्या ७८
- १२ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावना की आधुनिक युग में अनिवार्यता डॉ० उमा शर्मा ८६
- १३ ब्रह्म-विषयक विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण डॉ० कुलदीप कुमार ९१
- १४ महर्षिदयानन्ददृष्ट्या देवताविमर्शः डॉ० प्रतापचन्द्ररायः ९७
- १५ वेदों में वर्णित सोम का स्वरूप डॉ० प्रतिभा आर्या १०४
- १६ संस्कारविधि-प्रोक्त चूडाकर्म संस्कार का चिकित्सकीय अनुशीलन डॉ० राजकिशोर आर्य १११
- १७ पातञ्जल योगसूत्र का पुनः अनुक्रमण देवेश कुमार, प्रो० (डॉ०) नीलिमा पाठक १२०
- १८ मोटापा के प्रबन्धन में आयुर्वेदिक पञ्चकर्म तथा हठयोगिक षट्कर्म चिकित्सा की उपयोगिता देवेश कुमार, डॉ० ऊधम सिंह १२६
- १९ संस्कृत वाङ्मय में वर्णित 'सूर्य विज्ञान' की वर्तमान समय में आवश्यकता व उपादेयता मानवेन्द्र मिश्रा, डॉ० रामचन्द्र मेघवाल १३४
- २० भारतीय जीवन शैली में अर्थशास्त्र की लोकोपादेयता शुभम शर्मा १४०

- २१ वैदिकी अर्थव्यवस्था: आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सचिन, प्रभात कुमार १४६
- २२ FINDING HAPPINESS: A VEDĀNTIC APPROACH
Swami Shrimohananda, Dr. Bharat Vedalankar 153
- २३ Exploring Yogic Meditation: Insights from the Katha Upanishad
Dev Prakash Gujela, Neha Gujela 163
- २४ The Role of Indigenous Knowledge Systems in Strengthening India's
Aspirational Foreign Policy Dr. Abhya Raj Singh, Dr. Abhishek Kumar 174
- २५ Ecological Consciousness in Vedic Literature: A Timeless Perspective
on Sustainability Dr. Reena Verma 186
- २६ Intellectual Property Rights and Digital Rights Management in the Digital Era
Harendra Malik 194
- २७ Navigating the Digital Age: How Spiritual Practices Fortify Women's
Mental Well-being Jigayasha Thakur, Dr. Manan Kumar Agrawal 202
- २८ Concept of Kundalini in Hatha Yoga Onit Kumar 209
- २९ Durgā Saptas̄ati: Highlighting the Depiction of Shaktism for Gaining a Deeper
Understanding of Feminism Pramod Thapliyal, Dr. Laxmi R. Chauhan 214
- ३० An Aesthetic Study in the Select Works of Vijay Tendulkar: An
Application of Rasa Theory Manish Kumar Chaturvedy, Dr. Ankit Trivedi 226
- ३१ Universal Importance of Indian Culture in The Immortals of Amit Chaudhuri
Dr. Balesh Kumar Chauhan 238
- ३२ Divine love of the Feminine in Female Bhakti Poetry across India
Kartikey Joshi 244

सम्पादकीय

भारतीय शास्त्रीय ज्ञानपरम्परा के विशिष्ट उद्गाता आचार्य दयानन्द

प्रो० ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार

संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

दूरभाष- ९४१२३०७१२३, ईमेल- brahma६३@gmail.com

साम्प्रतिक काल में स्वदेशी पारम्परिक शास्त्रीय और लौकिक ज्ञान को प्रमुखता देने के लिए अध्ययन-अध्यापन का नए स्वरूप में अंग बना, बहुचर्चित और बहुश्रुत विषय है- भारतीय ज्ञान-परम्परा। इसकी स्वतन्त्र भारत के प्रथम दिन से ही पाठ्यसामग्री में प्रधानता होनी चाहिए थी। स्वतन्त्रता से पूर्व के भारत के काल खण्ड के इतिहास को देखें तो वहाँ पराधीनता और विभिन्न राजाओं की शासन आदि व्यवस्थाएँ अलग होते हुए भी सम्पूर्ण भारतीय सामान्य जन-समुदाय सांस्कृतिक और वैचारिक रूपेण एक सूत्र में बन्धा था, लेकिन स्वातन्त्र्योत्तर काल में राजनीतिक कारणों से शिक्षाव्यवस्था ऐसे हाथों में गई कि जिन्हें भारतीयता की गौरवपूर्ण परम्पराओं का परिज्ञान नहीं था या वैदेशिक प्रभाजाल की चकाचौंध से वे चौंधियाये हुए थे। कालान्तर में भारतीय जनमानस पर उसका दुष्प्रभाव स्पष्टतः हुआ है। इसीलिए अब कुछ दशकों से भारत, राष्ट्र के रूप में किञ्चित् छिन्न भिन्न हुआ दिखाई देता है। समाज में वह प्रेम, आत्मीयभाव समाप्त प्रायः हो गया है, साथ ही पारम्परिक सभी प्रकार के ज्ञान भी शनैः शनैः समाज से न्यून हो गये हैं या हो रहे हैं। अब छोटी छोटी वस्तुओं के लिए प्रत्येक व्यक्ति शहर की ओर दौड़ लगाता है, गाँव में तक्षक, लोह का कार्य करने वाले, चर्मकार, क्षौर आदि कार्य करने वाले समाप्त प्रायः हो गए हैं। उपभोग की सामग्रियों और अंग्रेजी डॉक्टर्स के प्रभूत प्रभाव से उस परिवेश विशेष में अनेक पीढियों से प्राप्त होने वाली पारम्परिक आयुर्वेद की औषधियों को भी सामान्य जन भूल सा गया है। शिशु जनने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों से भी दाइयों की व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गई है। स्वस्थ रहने के लिए प्रकृति से प्राप्त आहार में क्या भक्ष्य वा अभक्ष्य है, कब सोने या जागने का लाभ है इत्यादि समाज धीरे धीरे भूल गया है। कौन सा नक्षत्र रात्री के किस प्रहर में उदित होता है? सप्तर्षि वा ध्रुव तारे कौन से हैं? चन्द्रमा की कलाओं के बढ़ने या घटने का प्राकृतिकरूपेण क्या प्रभाव पड़ता है? भारतीय शास्त्रीय ही नहीं वरन् लौकिक परम्परायें भी बहुत महत्वपूर्ण वैज्ञानिकता को अपने में समाहित किए हुए हैं। यथा- तुलसी, पीपल, वट, शमी, गंगा, यमुना आदि के पूजन की लौकिक परम्परा के पीछे के विज्ञान को देखा जा सकता है। आज के बच्चे इन परम्पराओं के ज्ञान-विज्ञान से शून्य हो गए हैं? विडम्बना यह है कि जिस अपनी भाषा में नित्य व्यवहार करते हैं, उसकी शुद्ध वर्णमाला और संख्या के ज्ञान के प्रति भी नित्य हास ही देखा जा रहा है, जो चिन्त्य है।

भारतीय ज्ञानपरम्परा निश्चितरूपेण अनुभव आधारित रही है, इसमें सब अच्छा ही अच्छा है- ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें बहुत सारी परम्पराओं के मूल में स्वार्थवृत्ति रही होगी और जहाँ स्वार्थ है, वहाँ कल्याण नहीं, अतः उनका समीक्षण परीक्षण हो और परिमार्जन के साथ अच्छे को स्वीकार करते हुए आगे की जीवनयात्राएँ आनन्दातिरेक की कारण बन जायें- इस उद्देश्य से अब पुनः राज्याश्रय से इन गौरवशाली भारतीय ज्ञानपरम्पराओं का अनुशीलन, वैचारिक और वैज्ञानिक धरातल पर विभिन्न संस्थानों में होना आरम्भ हुआ है, जो स्तुत्य है। इसको जान कर भारतीय स्वाभिमान से ओतप्रोत मानव का हृत्तल मनस्तोष से पूर्ण हो, प्रफुल्लित होगा

ही और गर्व से गौरवान्वित भी। यही भारतीय ज्ञानपरम्परा के निहितार्थ को जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत करने की नीति का गणित होना चाहिए, जो औचित्यपूर्ण और परम्परा को महत्त्व देने को उद्घाटित कर पाने में समर्थ होगा। भारतीय ज्ञानपरम्परा के लिए स्वामी दयानन्द को उद्बोध-

प्राचीन भारतीय शास्त्रीय ज्ञानपरम्परा प्रायः संस्कृत-भाषागत वाङ्मय में अनुस्यूत है। वह अन्धानुकरण को सर्वथा नकारती है। उपनिषद्, वाल्मीकिरामायण, महाभारत, गीता आदि के रूप में प्रश्नोत्तर की लेखनशैली इसी का प्रबल समर्थन करती हुई दिखाई देती है। उक्त परिप्रेक्ष्य में दयानन्दकृत कार्यों का समीक्षण करें तो हम पायेंगे कि वे किसी भी भारतीय शास्त्रीय या लौकिक परम्पराओं को जीवन में वरीयता देते हुए भी बिना गहन विचारणा और परीक्षण के स्वीकार करने के पक्षधर नहीं हैं। सत्य को सत्य और असत्य को असत्य कहने में वे किञ्चिन्मात्र भी संकोच करते हुए दिखाई नहीं देते। शायद इसीलिए कि उनकी आत्मा 'मनुष्याः कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति (निरुक्त ३.७) अर्थात् (मत्वा) जान कर, विचार कर (कर्माणि) कर्मों को (सीव्यन्ति) सिता है, फैलाता है, विस्तारित करता है, इस निर्वचन के अनुसार निरन्तर मनन, चिन्तन करके कर्मों को करने के कारण मनुष्य को मनुष्य कहा जाता है'- इस परिभाषा से पूर्व जन्म से ही प्रेरित रही हो। यही कारण है कि उनकी शैशवावस्था ही शिवरात्रि के पूजापाठ की परम्परा पर जिज्ञासुभाव से प्रश्न उठाती है और उसके सही उत्तर न मिलने पर उसके प्रति विद्रोह भरे स्वर को बुलन्द करती देखी जाती है। बहन और चाचा की मृत्यु भी उनकी विवेकशील बुद्धि में अशान्ति को पैदा करती है और वे पिता के वैभवसम्पन्न घर को छोड़कर निकल भागते हैं, सत्य की खोज में, दर दर भटकने के लिए। यथाकाल अनेक योगी महात्माओं का सांनिध्य उन्हें प्राप्त होता है। अन्तःकरण और आत्मा पर पड़े हुए तमस् के आवरण हटते हैं तो यथावसर परम आनन्द की अनुभूति भी करते हैं। गुरु विरजानन्द का सामीप्य पाकर वे हीरे की तरह तरासे जाते हैं और अपनी प्रखर बुद्धि की जाज्वल्यमान प्रभा से लोक को चमत्कृत करने के लिए तैयार हो जाते हैं। भारतीय ऋषि, महर्षियों, मुनियों की दिव्य शास्त्रीय-परम्परा पर अगाध श्रद्धाभाव को लेकर, वैदिक परम्परा द्वारा सब प्राप्तव्य प्राप्त किया जा सकता है, उसको आविष्कृत करने और समझने की आवश्यकता है- इस भाव से भावित हो लोककल्याण के लिए सब को उद्बोधित करने के लिए बिगुल बजाने निकल पड़ते हैं।

भारतीय समाज के उद्धारार्थ कार्यक्षेत्र में अवतरण-

योगविद्या की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण भारतवर्ष में परिभ्रमण करते हुए दयानन्द ने अद्भुत गुरुओं का सांनिध्य प्राप्त किया तथा अध्यात्म-ज्ञान से अनुप्राणित हो लम्बी समाधि में आनन्द की अनुभूति भी की। इस काल में घूमते हुए भारत की दृष्ट-दुर्दशा से दयानन्द अत्यधिक व्यथित हुए। इसी मध्य गुरु विरजानन्द से भारतीय गौरवशाली शास्त्रीय ज्ञान के आलोक से आलोकित हुए और उसके माध्यम से भारत के घोर तमस् को हटाने के लिए निकल पड़े। स्वार्थीजनों ने इस दिव्य धरा पर निवास करने वाले अधिकतम समाज को स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्^१ जैसे निन्द्य

१. स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम् की सोच ने भारतीय समाज की अत्यधिक हानि की और अधिकतर समाज अशिक्षित रहकर मूर्खता की ओर बढ़ गया। इसी कारण अन्धपरम्पराएँ भी चलीं, वे जबतक निर्मूल नहीं होंगी तब तक हर क्षेत्र में समृद्धि होना सम्भव नहीं।

वचनों को आधार बनाकर अशिक्षित रहने को मजबूर किया, अत एव यहाँ का सामान्यजन चिन्तन की शक्ति से शून्य हो गया। अपने प्राचीन परम वैभव को भूल गया। यहाँ का समाज शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विपन्नता से सम्पन्न है। इसप्रकार के गहन अन्धतमसों से प्राप्त-निद्रा से इस देश के सामाजिकों को प्रबोधित करने के लिए उनकी जातिगत, सम्प्रदायगत कुरीतियों के समूल निरसन के लिए आचार्य दयानन्द अहर्निश लगते हैं।^१ सम्पूर्ण जीवन शारीरिक कष्टों को तृणवत् समझते हुए, घनघौर यातनाओं को सहा पर फिर भी निर्भीक होकर अन्तिम श्वास तक भारतीय समाज के कल्याण के लिए समर्पणभाव से कार्य करते रहे।

भारतीय समाज को जागरूक करने के लिए आचार्य दयानन्द ने उसी वैदिक मार्ग पर श्रद्धाभाव रखा, जिसे सम्पूर्ण भारतीय शास्त्र अपना मूल स्वीकार करता है।^२ उनका दृढ मन्तव्य था कि वेदों की अप्रवृत्ति होने से अविद्यान्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होने से, जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया।^३ अर्थात् अविद्या ही सब समस्याओं की जड़ है, उसी को काटना अपेक्षित है, समाज में यदि शिक्षा का अभाव है तो अज्ञान की उत्पत्ति स्वाभाविक है। वेद उनके लिए परमप्रमाण थे। अन्य सभी शास्त्र वेदानुप्राणित हैं तो उचित हैं, अन्यथा वे हेय हैं। वे भारत के प्राचीन पारम्परिक समुज्ज्वल पक्ष, जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनी महर्षि तक चला, को स्वीकार करते हैं तथा वही समाज के सामने रखते हैं। वे किसी भी घिसी पिटी परम्परा को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। वे वही स्वीकार करते हैं जो सर्वजन हिताय हो अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति स्त्री पुरुष का जिससे कल्याण हो। उनका अपने निजी मत को किसी पर थोपने का किञ्चिन्मात्र भी उद्देश्य नहीं। इस विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं- ब्रह्म से लेकर जैमिनि पर्यन्त जितने भी ऋषि मुनि एवं आचार्य हुए, तथा उनके द्वारा जो प्रोक्त वाङ्मय सम्प्रति उपलब्ध है तथा जो वेदानुकूल भारतीय शिष्टाचारान्तर्गत परम्परा है, उन सब को स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने अन्दर समेटे हुए हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व वा मत नहीं है।^४

विशेष कार्य-

मानव मात्र की वैचारिक शक्ति को अव्याहतगति देने के लिए विद्या का सर्वोत्कृष्ट महत्त्व है- यह उन्होंने जाना था। सभी विद्याओं का मूल ईश्वर है और उसी के निःश्वासभूत वेद हैं, उसी से दूर किए गए सामान्य जन

२. द्रष्टव्य- महर्षि दयानन्द का महत्त्वपूर्ण पत्रव्यवहार, पृष्ठ- ३९९, सम्पादक- डॉ० वेदपाल, प्रकाशक- परोपकारिणी सभा, अजमेर, प्रथम संस्करण सन् २०१६, हम ने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़कर यह कार्य ग्रहण किया है।

३. (क) मनुस्मृति २.७, सर्वज्ञानमयो हि सः।

(ख) महाभारत, अनुशासन पर्व १२२.४, यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः। तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥

(ग) याज्ञवल्क्यस्मृति १२.१, न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते। निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥

(घ) आर्यसमाज नियम ३, वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है।

४. द्रष्टव्य- सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ११ की अनुभूमिका।

५. मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य, लेखक एवं प्रकाशक- पं० युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़, सोनीपत, प्रथम संस्करण, संभवत्

२०४८, पृष्ठ- ३

को वेदज्ञान के मार्ग का पुनः पथिक बनाने के लिए यजुर्वेद के मन्त्र- यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।। (यजुर्वेद २६.२) के परिप्रेक्ष्य में वेदादि समस्त शास्त्रों के पठन पाठन का मनुष्यमात्र को अधिकार है, यह अधीत अनधीत समस्त जनों के समक्ष प्रदर्शित किया। स्वाध्याय और शिक्षण के लिए वेदों का व्याख्यान करते हुए आचार्य दयानन्द ने ऋषि मुनियों द्वारा स्वीकृत अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैवत त्रिविध प्रक्रियाओं को जहाँ वेदार्थ में स्वीकार किया, वहीं चतुर्थी प्रक्रिया व्यावहारिकी का भी अवलम्बन कर वेदों द्वारा सामान्य जनों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया। व्याख्यायित मन्त्रों को समाज के प्रत्येक मनुष्य तक पहुँचाने के लिए पत्र, पत्रिकाओं, विज्ञापनों का सहारा लिया गया। जहाँ इन प्रकाशित अङ्कों के भारतीय विद्वान् नियमित ग्राहक थे वहीं वैदेशिक मैक्समूलर और मोनियर विलियम भी इसके पाठक थे। उनके विचारों में इस वेदभाष्य के अध्ययन से पश्चाद्वर्ती काल में परिवर्तन भी हुए ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए इंग्लैण्ड आने के लिए भी मैक्समूलर ने आचार्य दयानन्द को निमन्त्रण भेजा था।^६ वेदों पर जितना व्याख्यान^७ आचार्य दयानन्द का है, उसमें उनके भावार्थों में विशेषरूपेण अनेक सामाजिक, भौतिक, वैज्ञानिक, शिल्प आदि विषय विश्लेषित हुए हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका जैसे ग्रन्थ की संरचना के द्वारा वेदों का महत्त्व क्यों है? इसका सुन्दर समालोचन अनेक विषयों को उपस्थापित कर स्वामी जी ने किया है। इस ग्रन्थ में जहाँ आध्यात्मिक विषयों को स्पष्ट किया, वहीं भौतिक विद्याएँ भी सूक्ष्मरूपेण वेदों में हैं, यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न स्वामी दयानन्द का रहा है। वस्तुतः सब सत्यविद्याओं का मूल वेद है, इस तथ्य का दिग्दर्शन इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य रहा है।

भारतीय शास्त्रीय परम्परा के मर्म को समुद्राटित करने वाले आचार्य दयानन्द के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में सत्यार्थप्रकाश एवं संस्कारविधि लोक में अत्यधिक समादृत ग्रन्थ हैं। सत्यार्थप्रकाश में द्वितीय, तृतीय समुल्लासों के माध्यम से शिक्षाव्यवस्था का जीवन्त स्वरूप प्रदर्शित हुआ है। भारतीय शासनप्रणाली जिस अनिवार्य शिक्षा को अब देश में लागू कर रही है, वह लगभग १५० वर्ष पहले ही सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित है, दोनों में अन्तर इतना है कि भारत का संविधान केवल अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करता है, बच्चे के आवश्यकरूपेण पढ़ने पर बल नहीं देता, लेकिन स्वामी दयानन्द के अनुसार यदि बच्चा पाठशाला में नहीं जा रहा है तो माता पिता दंड्य हैं, शायद इसलिए कि बच्चा शिक्षा के महत्त्व को नहीं जानता, अतः वह मौजमस्ती करेगा, विद्यालय क्यों जाना चाहेगा? यह

६. द्रष्टव्य- वही पृष्ठ सं० १९१-२००

७. महर्षि दयानन्द का भाष्य सम्पूर्ण यजुर्वेद एवं ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ६१.२ तक है।

८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ में कुल ३५ विषयों पर चर्चा की गई है। जिनमें वेदादि की उत्पत्ति के अतिरिक्त सृष्टि, पृथिव्यादिलोकभ्रमण, गणित, नौविमानादि विद्याओं का भी उल्लेख किया है। डॉ० कुशलदेव शास्त्री ने अपने ग्रन्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती और महाराष्ट्र के पृष्ठ ३०५-३१२ के एक अध्याय में लिखा है कि श्री शिवकर बापू तळपदे, जो स्कूल ऑफ आर्ट में शिक्षक थे, ने मुम्बई की चौपाटी पर मरुत्सखा नाम का विमान बनाकर १५०० फिट की ऊँचाई पर अनेक गणमान्य और अन्य हजारों लोगों के समक्ष राईट ब्रदर्स से पाँच छः वर्ष पूर्व ही उड़ा कर दिखाया था। स्वामी दयानन्द द्वारा ऋग्वेद के जिन ११ मन्त्रों को लेकर वेदों में वैमानिक विद्या सिद्ध की है, उनकी सूची भी यहाँ दी गई है। द्र० पृ० ३११

कर्तव्य तो माता पिता का ही है कि वे उसे मार्ग दिखायें। वेदादि शास्त्रों की प्रामाणिकता के आधार पर स्त्री-शिक्षा को प्राथमिकरूपेण महत्त्व देना भी स्वामी दयानन्द की समाज को विशिष्ट देन है। आगे चतुर्थ समुल्लास में गृहस्थधर्म, पञ्चम में वानप्रस्थ एवं संन्यास धर्म निर्देशित किया गया है। षष्ठ में राजव्यवस्था का भी चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में हुआ है। इसी प्रकार अन्यान्य समुल्लासों के माध्यम से भी विविध सन्दर्भों को सत्य की तुला पर तोलने का प्रयास स्तुत्य एवं अनिर्वचनीय है।

भारतीय समाजशास्त्रियों ने मानवमात्र को सुसंस्कृत, संस्कारित करने की जिस विद्या का आविष्कार सैंकड़ों वर्ष पूर्व किया था, उसे ही संस्कारविधि में षोडशसंस्कारों के माध्यम से परिभाषित किया गया है। अद्यतन काल में पशुओं, वनस्पतियों, अन्न, शाक आदि को अधिक परिमार्जित करने के लिए, भौतिक सुख समृद्धि बढ़ाने के लिए शोध हो रहे हैं, लेकिन मानव को सुसंस्कारित, परिष्कृत करने की कला वा विज्ञान आज के वैज्ञानिकों की अन्तर्दृष्टि का लक्ष्य नहीं। अतः मानवता, नैतिकता कहीं खोती हुई सी लगती है, जिसे संस्कारविधि कुछ दिशा देती है।

कृषि प्रधान भारतभूमि है इसको देखते हुए भारतीय परम्परा अनुसार गोकृष्यादिरक्षिणी सभा और उसके नियम उपनियम गोकुरुणानिधि नामक अपनी पुस्तक में दिए।

संक्षेपतः आचार्य दयानन्द के अन्य कार्यों को स्पष्ट किया जाए तो भारतीय शास्त्रों की गौरवशाली परम्पराओं को समझाने के लिए नित्य व्याख्यान^१, ग्रन्थलेखन, पत्रव्यवहार, शास्त्रार्थ इत्यादि अनेक पद्धतियों के माध्यम से समाज को जागरूक करने के लिए उन्होंने अपने जीवन काल में कार्य किए।

शिक्षणसंस्थानों पर बल-

स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन काल में समाज को उन्नत करने के लिए व्याख्यान आदि के माध्यम से, उद्बोधनों से, बौद्धिक तमस् को जहाँ दूर करना चाहा वहीं एक उपाय विभिन्न शिक्षणसंस्थानों के सञ्चालन द्वारा भी करने का प्रयत्न किया। क्योंकि इस जगतीतल पर शिक्षित किए बिना मानव की उन्नति असम्भव है, वस्तुतः मनुष्येतर प्राणियों की सृष्टि ऐसी है कि वे प्रकृति के साथ रहते हुए सब स्वाभाविक ज्ञान के साथ अपना जीवन यापन करते हैं, लेकिन मानव में स्वाभाविक ज्ञान स्वल्प है तथा नैमित्तिक ज्ञान का आधिक्य है। नैमित्तिक ज्ञान के बिना मानव की कोई गति नहीं, शायद वह पशु से भी निम्न हो जाए!!! इसी मानवीय मनोविज्ञान को आचार्य दयानन्द ने समझा था, अतः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्तिविषय में कहा- न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविक-ज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। ---- मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च। (भूमिका भास्कर, पृष्ठ १३०, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, रामलाल कपूर ट्रस्ट,

१. स्वामी जी गर्मियों में तीन चार वजे इतर समय २:०० वजे सै वक्तव्य किया करते थे हजारों मनुष्य श्रवण करते शंका वाले शंका करते और शास्त्रार्थ वाले शास्त्रार्थ भी किया करते कितने ही मनुष्य यह ही देखने वक्तव्य में जाते कि किस-किस मोटे ताजे चिट्टे पोश खर्ज में वोल्ने वालों की क्या दशा होती है कुछ हो यहाँ स्वामी जी वक्तव्य करते वह देश उन्ही का हो जाता। पृष्ठ ११६

रेवली, सोनीपत, प्रथम संस्करण २००६ ईस्वी) इसी सत्य को वहीं पर अन्यप्रकार से भी ऋषिवर ने कहा है- नैव कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति। यथेदानीं किञ्चिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा- कस्यचित् सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वात्रपानादिकं युक्त्या दद्यात्, तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्याद् यावत् तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किञ्चिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति, यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत् प्रवृत्तिर्भवति, तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। (वही, पृष्ठ १२४) अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि मानव विना नैमित्तिक शिक्षा के, ज्ञान के कुछ भी स्वयं नहीं कर सकता। सृष्टि के आदि में वेदोत्पत्ति को इसीलिए स्वीकार किया जाता है, उसी से मानवीय सभी प्रवृत्तियाँ हुईं। दैवीगुणसम्पन्न मानव बनाने की यही निमित्त आधारित प्रक्रिया है, इसलिए शैशवावस्था से ही जैसा माता, पिता और गुरु रूप निमित्त होगा, उत्तम शिक्षणालय होंगे तो निश्चयेन मानव की निर्मिति भी उसी परिवेश के अनुसार वैसी ही होगी। अतः दयानन्द पदे पदे अपने ग्रन्थों, पत्रव्यवहारों और प्रवचनों में शिक्षा पर अत्यधिक ध्यान देने की वकालत करते हैं।

महर्षि दयानन्द को शैशवावस्था में अधिक सम्भावनाएँ मानव के श्रेष्ठ बनाये जाने में दिखाई देती हैं। यही बात जोधपुर नरेश को एक पत्र में वे लिखते हैं- “आप महाराजकुमार की शिक्षा के लिए किसी मुसलमान वा ईसाई को मत रखियेगा। नहीं तो महाराजकुमार भी इन के दोष सीख लेंगे। और आप की सनातन राजनीति को न सीखेंगे। न वेदोक्त धर्म की ओर उनकी निष्ठा होगी, क्योंकि बाल्यावस्था में जैसा उपदेश होता है वही दृढ़ हो जाता है। उस का छूटना दुर्घट है।”^{१०} इस वचन से सिद्ध है कि बाल्यावस्था को मानवोन्नति के लिए आचार्य ऋषिवर दयानन्द सर्वाधिक प्राथमिकता देते हैं। समाज में प्रायः समस्त उदाहरण इस प्रकार के उपलब्ध हैं कि बचपन में जो सीखा है वही दृढ़मूल हो संस्कारों में बैठ जाता है। अद्यतनीय राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था में उक्त वाक्य के अनुरूप पठन पाठन की व्यवस्था न होने से दयानन्द की चिन्ता वास्तव में मूर्त हुई समाज में देखी जा सकती है। इसीलिए समाज के नैतिकपतन की कथा प्रत्येक व्यक्ति कह रहा है।

बाल्यावस्था को ही संवारने के लिए शिक्षाशास्त्री दयानन्द अधिकाधिक शिक्षणालयों के चलाने के मुख्य पक्षधर हैं, उन्होंने यथासम्भव स्वयं भी यह कार्य किया, लेकिन अन्ततोगत्वा तादृश मनोकूल आचार्यों की प्राप्ति न होने पर सब बन्द हो गई। देखिए इस सन्दर्भ में उनके प्रयत्न पं० मुकुन्ददेव के अनुसार कितने सार्थक थे, वे एक स्थान पर लिखते हैं- स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अष्टाध्यायी के प्रचारार्थ स्थान स्थान पर पाठशालाएं खोल दी थी। किसी में पण्डित जुगल किशोर, किसी में पण्डित बृज किशोर अध्यापक कर दिए थे।^{११}

जब टोका घाट फरूकावाद में पाठशाला स्थापित हुई उसमें मेरे पिता जी (पण्डित उदय प्रकाश जी) को बुलाकर अध्यापकतया स्थापन किया। (पृष्ठ ११४), इस पर सम्पादकीय टिप्पणी है कि फरूकावाद में पाठशाला

१०. महर्षि दयानन्द का महत्त्वपूर्ण पत्रव्यवहार, पृष्ठ ५७५

११. दण्डी जी की जीवनी (दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र), लेखक- पण्डित मुकुन्ददेव, मथुरा, सम्पादक- प्रोफेसर डॉ० रामप्रकाश, प्रकाशक- डॉ० राजेन्द्र विद्यालङ्कार, सत्यार्थ प्रकाशन, १४२५.१३ कुरुक्षेत्र (हरियाणा), प्रथम संस्करण २००३, पृष्ठ ११४

सम्वत् १९२६ से १९३२ विक्रम तक चली। इसका व्यय सेठ निर्भय राम देते थे। यहाँ पहले बृजकिशोर, फिर कुछ दिन जुगलकिशोर, तत्पश्चात् उदयप्रकाश अध्यापक नियुक्त हुए। पण्डित उदयप्रकाश को ₹२० मासिक वेतन तथा भोजन मिलता था। वे कई वर्ष अध्यापक रहे।^{१३} इन सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि आचार्य दयानन्द वास्तव में कितने उदारमना और भारतीय शैक्षिक परम्परा को गति देने के लिए कितनी तन्मयता से कार्य करने लगे थे। उनमें गुरुवर विरजानन्द^{१३} के समान ही आर्षग्रन्थों में श्रद्धाभाव अत्यन्त आदरास्पद था। इसका एक सन्दर्भ पं० मुकुन्ददेव की लेखनी से ही प्रसूत दर्शनीय है- दो-तीन मास के अनन्तर मेरे पिताजी के सामने एक संस्कृत पत्र भेजा उसमें लिखा था कि मैंने सुना है कि तुम अनार्षग्रन्थ भी पढ़ा रहे हो मैं यह विश्वास नहीं करता तथापि यदि पढ़ाते हो तो अब उन्का परित्याग कर दो। (वही, पृष्ठ ११५)

गायनविद्या के पारखी-

आचार्य दयानन्द बहुत अच्छे भारतीय संगीत के विशेषज्ञ भी थे यह भी एक प्रसङ्ग से ज्ञात होता है। यथा-जयपुर दरबार में महाराजा राम सिंह ने स्वामी जी को अपने दरबार में सम्मानित किया।---- एक भारत विख्यात उस्ताद खाँ साहब का संगीत हुआ। सभी ने खूब दाद दी पर स्वामी जी निश्चल बैठे रहे। उस्ताद के पूछने पर स्वामी जी ने कहा "अच्छा गाते हो परन्तु यह जो राग तुमने गाया, (राग का नाम लेकर) उसके अमुक स्थान पर अवरोह में जो स्वर जोड़ा है, वह कण्ठ से नहीं उदर से निकलना चाहिए। इस दोष से राग कुछ मार खा गया" यह सुनकर खान साहब स्तम्भित रह गए। महर्षि के चरणों में सिर नवा कर कहा "महात्मन्! मुझे खटकता अवश्य था, परन्तु किससे पूछता। मेरे गुरु जी का तो वर्षों पूर्व स्वर्गवास हो गया, शेष जो कलाकार हैं वे मुझे से सिखने वालों में हैं, उनमें यह योग्यता कहाँ! आज स्वामी महात्मा के दर्शन क्या हुए खुदा का मुझ पर फजल हो गया"^{१४} स्वामी जी साम गान के विज्ञ थे। यह भी ज्ञात होता है। (द्र० वही, प्रस्तावना, पृष्ठ- ३)

सामाजिक विरूपता से मुक्ति के स्वप्नद्रष्टा-

समाजिक दुरवस्थाओं को देखकर आचार्य दयानन्द का सद्य हृदय आर्द्र होता भी देखा जाता है। वे उनसे इसकी मुक्ति की निरन्तर परमपिता से जहाँ प्रार्थना करते हैं वहीं सामाजिक कुरीतियों के प्रति युद्ध करते भी देखे जाते हैं, अत एव भारतीय समाज को सम्प्रदाय मुक्त और जातिमुक्त करना भी स्वामी दयानन्द का एक लक्ष्य उनके कार्यों में मुख्यरूपेण दिखाई देता है। वे समाज के कल्याण के लिए अनेकों बार विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्तियों से इस विषय में संगोष्ठियाँ, वार्तालाप करते हैं।^{१५}

१२. वही, पृ० ११८

१३. वही, पृ० ८४, स्वामी दयानन्द के गुरु का जयपुर नरेश रामसिंह के समक्ष डिण्डिमघोष पठनीय है- भारतवर्ष भर के समस्त देशस्थ पण्डितों को निमन्त्रित कर दीजिये, उनके उपस्थित होने पर आपके ही समक्ष सिद्ध कर दूँगा तथा अन्यान्य पण्डितों से सिद्ध करा दूँगा कि सिद्धान्तकौमुद्यादिक अनार्षग्रन्थ सर्वथा अपाठ्य हैं और अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि समस्त आर्षग्रन्थ मात्र पाठ्य हैं, जिनके अध्ययन व अध्यापन करने से राजा व प्रजा दोनों का कल्याण होगा। विशेष तो जो राजा आर्षग्रन्थ पठन पाठन प्रणाली चला देगा वह सर्वभौम महाराज होगा।

१४. वही, प्रस्तावना, पृ० ज, ३

१५. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृ० २३२

भारत की विपन्नावस्था को देखकर शिल्पविद्या में यहाँ के छात्रों को पारङ्गत करने के लिए भी वे विदेशों में उन्हें भेजने के लिए पत्रव्यवहार करते हैं। इसप्रकार के पत्रव्यवहार जर्मनी के विश नामक विद्वान् से हुए हैं।^{१६}

निष्कर्ष-

स्वामी दयानन्द के समस्त जीवन का अवलोकन करें तो वे जहाँ भारतीय शास्त्रीय परम्परा के निष्णात तलस्पर्शी पारदृश्वा मनीषी, शास्त्रार्थमहारथी हैं, वहीं पुरातन ऋषि महर्षियों की परम्परा को गति देने वाले अध्यात्मवेत्ता, योगी, ब्रह्मवेत्ता, वेदवित्, अद्वितीय ब्रह्मचारी, कर्मयोगी, सत्यनिष्ठ, उदारधी इत्यादि विशेषणों से अभिषिक्त करने योग्य हैं। वे समाज को उन्नत करने के लिए शिक्षाशास्त्री, समाजशास्त्री, नारी के उद्धारक, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ, धर्मज्ञ भी हैं। वे सर्वत्र रूढीरूप परम्पराओं को अस्वीकार करते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि ऐसी परम्परायें, जो बन्धन में, जंजीरों में बान्धती हैं, उनसे सामाजिकजन बचें। वे दलाल, मीडियेटर, मध्यस्थ से मुक्त करना चाहते हैं। स्वार्थ की प्रवृत्तियों से बचाना चाहते हैं। यदि किसान से सीधा गेहूँ या प्रतिदिन शाक लिया जा सकता है तो क्यों आढतियों के माध्यम से महँगा और बासी लें? चालीसवीं मंजिल पर एक मिनट में लिफ्ट से पहुँचा जा सकता है तो परम्परावादी सीढियों से क्या प्रयोजन? ईश्वर सर्वत्र इस जगत् के कण कण में विद्यमान है, तो सीधे उससे ही जुड़ने पर वे बल देते हैं। शिव, राम, कृष्ण जैसे महापुरुष संस्कृत साहित्य अथवा विभिन्न चित्रों में विना किसी मध्यस्थ के सीधे प्रतिदिन परमपिता परमेश्वर का स्वयं ध्यान करते हुए देखे जाते हैं, तब प्रत्येक स्त्री पुरुष क्यों नहीं ऐसा ही करे। किसी मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे या गिरजाघर में परम्परावादियों के अनुसार ही केवल उस परमेश्वर की उपस्थिति पर विश्वास क्यों? मानव हैं तो मननशील हो प्रश्न उठाने की शक्ति जागृत होनी ही चाहिए।

भारतीय ज्ञानपरम्परा में ईश्वरोपासना का विशेष महत्त्व है, उपासना पर श्रद्धाभाव की पराकाष्ठा महर्षि में दिखाई देती है, वे सामाजिकों की उन्नति के प्रमुख कारण के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। इनका मन्तव्य है कि प्रतिदिन शैशवावस्था से ही उपासना का महत्त्व बच्चों को यदि बताया जाये तो समस्त विकारों से निवृत्त होना सम्भाव्य है। परमेश्वर के गुण भी यथाकाल शनैः शनैः आविर्भूत होने लगेंगे। चैतन्य में विशेष प्रवृत्ति होगी। कर्म में विशेष गति होगी। नैतिक आचरण में विशेष अनुरक्ति होगी। इस विचार को पैनी धार देने के लिए सांगठनिक रूपेण आर्यसामाजिक गुरुकुलों में कार्य होना चाहिए था, जिसमें हरप्रकार के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षाएँ होती तो यथार्थ में सम्पूर्ण भारतवर्ष में गुरुकुलों की माँग होती और वैदिकी शिक्षा-व्यवस्था समाज में शिखर पर होकर विश्व के कल्याण का सन्देश दे रही होती।

अन्त में भारतवर्ष की ही नहीं वरन् विश्व की हतभाग्यता ही कही जायेगी कि आधुनिक काल में स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल रही कि आचार्य दयानन्द के विचारों, शिक्षाओं को वह महत्त्व स्वतन्त्र भारतीय शासनतन्त्र के द्वारा नहीं दिया गया, जिसके वे योग्य थे, पात्र थे। अब भारतीय ज्ञानपरम्परा के माध्यम से उसे किञ्चित् समझा जा रहा है, जो उस महामानव की दृष्टि के अनुकूल प्रतीत होता है। अस्तु।

तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित पाँच महासंहिताएँ

प्रो० सरस्वती, संस्कृत विभाग,

जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मोबाइल : ९७१७७४१७६५, ईमेल: saraswatizhdc@gmail.com

सर्वसामर्थ्यसम्पन्न परमैश्वर्यवान् परम-पिता परमेश्वर के मायासामर्थ्य से निर्मित इस स्वप्न संसार को, जो कि किसी के लिए वास्तविकता है तथा किसी के लिए मिथ्या है^१ उसके रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए मानव-मेधा अनादि-काल से प्रयासरत है। जहाँ भौतिक विज्ञानी सृष्टि के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए दिन-रात प्रयोगशालाओं में कार्यरत हैं वहीं अध्यात्म-विज्ञानी निरन्तर साधना में लीन होकर परम-पिता परमात्मा से एकत्व की स्थिति को प्राप्त कर उनकी कृपा से दिव्य मेधा सम्पन्न होकर उन रहस्यों के द्रष्टा बन रहे हैं। द्रष्टा भाव को प्राप्त मनीषी अलौकिक सुख एवं आनन्द से अभिभूत होकर प्राणी मात्र को वह सुख एवं आनन्द उपलब्ध हो, इस भावना से भावित होकर अपने अनुभवों को शब्दों में पिरोने का प्रयास करते हैं, जिन्हें व्यावहारिक जीवन में शास्त्रों के नाम से अभिहित किया जाता है। उन शास्त्रों में उपनिषदों का नाम अन्यतम है। तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि ने चेतना के उन्नयन के साधनों का वर्णन करते हुए, उन सोपानों को पाँच भागों में विभक्त किया है। चेतना के उन्नयन के पाँच सोपानों का नाम पाँच महासंहिता है।

सृष्टि में सर्वत्र पाँच का महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। सृष्टि की मूल आधारभूत पञ्चतन्मात्राओं से लेकर पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच मुख्य प्राण, पाँच-पाँच हाथों एवं पैरों उँगलियाँ, काम-वासना, क्रोधदि पाँच विकार। इस प्रकार सर्वत्र पाँच ही महत्त्वपूर्ण है। इसी क्रम में तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि ने भी चेतना के उन्नयन के लिए पाँच सोपानों को पाँच महासंहिताओं के रूप में वर्णन किया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि शिक्षावल्ली के प्रारम्भ में प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में की जाने वाली मंगलाचरण की भारतीय परम्परा का निर्वहण करते हुए, जीवन के आधार दिन, रात और वायु को प्रणाम करते हुए प्रत्यक्ष किए हुए ऋत को ही मैं बोलूँ, उसके विपरीत बोलने से आप हमारी रक्षा करें। इस प्रार्थना को करते हुए आन्तरिक शान्ति, वातावरण की शान्ति एवं भौतिक शान्ति की प्रार्थना करता है। मंगलाचरण के पश्चात् ऋषि कहता है कि अब शिक्षा की व्याख्या करेंगे।^२ शिक्षा की व्याख्या से पूर्व शिक्षा के अर्थ को समझने का प्रयास करते हैं- शिक्षा शब्द “शक्नु शक्तौ”^३ धातु से बनता है। शिक्षा से अभिप्राय है- सब प्रकार की दासताओं, पराधीनताओं, पराश्रित अवस्थाओं से मुक्ति पाकर स्वाधीन एवं स्वाश्रित हो जाना। यह शिक्षा ही वह उपकरण है जो मनुष्य को सामान्य से

१ ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, ब्रह्मज्ञानावलीमाला-२०

२ ॐ शिक्षाँ व्याख्यास्यामः तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा-वल्ली, अनुवाक-२

३ धातुपाठ स्वादिगण धातु संख्या - १२८६

विशेष बनाता है। जिस प्रकार परमात्मा किसी अन्य के अधीन नहीं है, उसी प्रकार शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपनी क्षमताओं को चरम बिन्दु तक विकसित करके परमात्मा होने की दिशा में अग्रसर हो सकता है। अपनी समस्त सम्भावनाओं को विकसित करके स्वाश्रित होने की शिक्षा किसी सामर्थ्यवान् गुरु के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है। तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि अपने शिष्य की अन्तर्निहित सम्भावनाओं के विकासार्थ शिक्षा की व्याख्या करता है। यहाँ पर विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रदान की जाने वाली सूचनात्मक शिक्षा की बात नहीं की जा रही अपितु ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति पिण्ड में अन्तर्निहित सम्भावनाओं को विकसित करके उसको अभिव्यक्त करने की क्षमतासम्पन्न शिक्षा की बात की जा रही है। शिक्षा अर्थात् शक्तुं योग्या।

तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा का स्वरूप-

“वर्णः स्वरः”^४ अर्थात् मनुष्य द्वारा अपने भावों एवं अनुभवों को व्यक्त करने की माध्यम स्वरूप भाषा की मूल इकाई वर्ण की उत्पत्ति का क्रम अथवा स्वरूप क्या है? इस सम्भावित प्रश्न के उत्तर स्वरूप वर्ण की उत्पत्ति का माध्यम स्वर है। ध्वनि को प्रकट करने के साथ वरण करना ही वर्ण है। इसी तथ्य को पाणिनीय शिक्षा में इस प्रकार कहा गया है-“आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युञ्जे विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्”^५ भारतीय मनीषियों ने भावाभिव्यक्ति की साधनरूप वाणी को चार भागों में विभाजित किया है-१. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा एवं ४. वैखरी^६। ईश्वर द्वारा बीजरूप में प्रदत्त सामर्थ्यों को उद्बुद्ध कर विकसित करने के लिए गुरु अपने शिष्य को आरोह क्रम से वैखरी के माध्यम से वैखरी के अंगों वर्ण, स्वर आदि का उपदेश करता है। वैखरी अर्थात् स्थूल शरीर के अंग मुख के माध्यम से उच्चरित भाषा है। जब शिष्य का सामर्थ्य इतना विकसित हो जाता है कि उसकी वैखरी पर निर्भरता समाप्त हो जाती है और वह वाणी के स्थूल रूप वैखरी को मन में समाहित कर वाणी के वैखरी रूप की अपेक्षा अतिसूक्ष्म रूप मन के माध्यम से वाणी के कार्यों को करने में समर्थ हो जाता है। वह स्थिति वैखरी के पश्चात् मध्यमा रूप जानी जाती है। जब शिष्य की मन पर भी निर्भरता समाप्त हो जाती है तब वह द्रष्टाभाव में स्थित होकर मन को बुद्धि में समाहित कर देता है। वाणी की यह स्थिति ‘पश्यन्ती’ कहलाती है। ‘पश्यन्ती’ के पश्चात् ऊर्ध्व की यात्रा करता हुआ शिष्य जब प्रकृति प्रदत्त सभी उपकरणों से उपरामता प्राप्त कर लेता है तब आत्मस्थिति को प्राप्त हुआ वह परा वाणी के क्षेत्र में प्रवेश पा जाता है, जहाँ उसका साक्षात् आत्मा के माध्यम से परमात्मा से संवाद होता है। परा रूप उच्च स्थिति को प्राप्त शिष्य योगदर्शन में संकेतित “तत्र निरतिशयं सर्वज्ञताबीजम्”^७ अर्थात् अपने अन्दर विद्यमान सर्वज्ञता के बीज को अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित कर सब प्रकार के भेदभावों से मुक्ति प्राप्त कर, स्वरूप स्थिति को प्राप्त करने की

४ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा वल्ली, अनुवाक-२

५ पाणिनीय शिक्षा, श्लोक संख्या- ६,७

६ वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेक तीर्थभेदायास्त्वया वाचः परं पदम्।। वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, कारिका-१४३

७ योगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र-२५

दिशा में अग्रसर हो जाता है। वर्ण एवं स्वर के पश्चात् मात्रा का कथन करते हुए कहते हैं “मात्रा बलम्”^८ मात्रा अर्थात् “मीयते अनया इति” जिसके माध्यम से ह्रस्व, दीर्घ एवं पुनः का मान किया जाए, वह मात्रा है। मात्रा अर्थात् काल। मात्रा में बल शब्द से क्या अभिप्राय है? बल शब्द में “बल प्राणने”^९ धातु है। जो बोला जा रहा है उसका प्राणतत्त्व बल है। ‘मात्रा बलम्’ के पश्चात् ऋषि का शिष्य के लिए उपदेश है-“सामसन्तानः” साम शब्द में “षोऽन्तकर्मणि”^{१०} धातु है। साम से अभिप्राय है जो वर्ण, स्वर, मात्रा और बल के माध्यम से कहा गया है वह सन्तुलित एवं अपने अन्तिम लक्ष्य रूप परिणाम को प्राप्त कर सन्तान अर्थात् विस्तार को, व्यापकता को उपलब्ध हो। इस प्रकार स्वर, वर्ण, मात्रा, बल, साम एवं सन्तान की यात्रा करता हुआ हम दोनों गुरु एवं शिष्य के लिए यश प्रदान करने का माध्यम बने। “सह नौ यशः”^{११} अश्नोति व्याप्नोति इति यशः अर्थात् हम दोनों अपनी चेतना का इतना विस्तार करें कि सर्वत्र व्याप्त होकर स्वार्थ तथा स्व, पर के भेद से युक्त राग-द्वेष से मुक्त होकर सर्वत्र एकत्व का दर्शन कर अपने सुखस्वरूप को उपलब्ध हों। सर्वत्र व्याप्त होने के पश्चात् हम दोनों का ज्ञान ब्रह्मवर्चस्^{१२} अवस्था को उपलब्ध हो। ज्ञान का तेजरूप अर्थात् शक्तिरूप को प्राप्त हो जाना ही ब्रह्मवर्चस् कहलाता है। जो ज्ञान शक्तिरूप को उपलब्ध हो जाता है वही ज्ञान सार्थक है। ऋषि प्रार्थना करता है कि हम दोनों का ज्ञान शक्तिरूप को उपलब्ध हो जाए।

उपनिषदों की भाषा प्रतीकों की भाषा है। तत्त्वसाक्षात्कर्ता ऋषि जनसामान्य की भाँति अभिधा के माध्यम से सूक्ष्म जगत् के गूढ़ रहस्यों को अभिव्यक्त नहीं करता, यदि हम उपनिषद् के ऋषि द्वारा प्रयुक्त शब्दों का केवल मात्र अभिधेयार्थ ग्रहण करें तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे कि ऋषि केवल भाषा में प्रयुक्त वर्ण, स्वर, मात्रा द्वारा निर्मित शब्द एवं शब्दों के योग से निर्मित वाक्यों का ज्ञान करा रहे हैं यह कार्य तो अल्प शिक्षित सामान्य व्यक्ति के द्वारा भी कराया जा सकता है। उपनिषद् के ऋषि के द्वारा लिखित शब्दों का अक्षर ज्ञान मात्र तात्पर्य तो नहीं हो सकता।

वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान आदि शब्दों के द्वारा व्यापकता एवं ज्ञान का शक्तिरूप होने जैसे उच्च मानकों को प्राप्त करने की प्रार्थना के पश्चात् ऋषि उपनिषद् संहिता की व्याख्या करते हैं। पाँच अधिकरणों में विभाजित उपनिषद् संहिता को जानने से पूर्व उपनिषद् और संहिता शब्द के अर्थ पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। उपनिषद् शब्द उप + नि उपसर्ग पूर्वक षद्लृ - विशरणगत्यवसादनेषु^{१३} धातु से क्तिप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। उप गुरुसामीप्यं ब्रह्मसामीप्यं वा निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद् अर्थात् निश्चयपूर्वक जिसके

८ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा वल्ली, अनुवाक-२

९ धातुपाठ, भ्वादिगण- ८६५

१० धातुपाठ, दिवादिगण-११७२

११ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक-१-३

१२ सह नौ ब्रह्मवर्चस्म्, तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक-३

१३ धातुपाठ, भ्वादिगण- ८७९

माध्यम से ब्रह्म का सामीप्य अथवा ज्ञान प्राप्त्यर्थ गुरु का सामीप्य उपलब्ध होता है वह उपनिषद् है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में संहिता संज्ञा विधायक सूत्र इस प्रकार है “परः सन्निकर्षः संहिता”^{१४} वर्णों की अत्यन्त समीपता की संहिता संज्ञा होती है। समीपता को प्राप्त वर्ण ही शब्द संज्ञा को प्राप्त करने में समर्थ होकर वक्ता के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो पाते हैं। वर्णों में परस्पर समीपता होने पर ही वे अर्थधारण की सामर्थ्य से युक्त होकर सार्थकता को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार शिष्य गुरु की अत्यन्त समीपता को प्राप्त करके ज्ञान को सम्यक् धारण करने के सामर्थ्य को उपलब्ध होता है यही उपनिषद् की संहिता है जिसे तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्या, अधिप्रजा एवं अध्यात्म नामक पाँच भागों में विभक्त करके संहिता से महासंहिता रूप में व्याख्यायित करता है^{१५}।

अधिलोक महासंहिता-

पाँचों महासंहिताओं में एक पूर्वरूप है जो कि चेतना के उन्नयन की यात्रा का प्रारम्भिक बिन्दु है, दूसरा उत्तररूप है जो कि यात्रा का लक्ष्यरूप बिन्दु है। तीसरा सन्निरूप है जो कि पूर्वरूप और उत्तररूप के मध्य विद्यमान अन्तराल को समाप्त कर दोनों को अर्थात् पूर्वरूप एवं उत्तररूप को मिलाने का साधन है। चौथा सन्धान अर्थात् नियम है, जिसके आधार पर पूर्वरूप एवं उत्तररूप की सन्धि की जाती है। अधिलोक महासंहिता में पृथिवी पूर्वरूप है। इस स्थिति में साधक, जिज्ञासु अथवा शिष्य अभी पृथिवी अर्थात् प्रारम्भिक बिन्दु अथवा यूँ कहें कि निम्न स्थान पर ही स्थित है तथा उसे इस स्थान से उठकर उत्तररूप अर्थात् ‘द्यौ’, जो कि ज्ञान, प्रकाश एवं उन्नति का प्रतीक है, उसे प्राप्त करना है। पूर्वरूप पृथिवी से उत्तररूप लक्ष्य ‘द्यौ’ को प्राप्त करने के लिए आकाश रूप सन्धि की आवश्यकता है। शब्द का, ज्ञान का स्थान आकाश है। आकाश शून्य होने का, रिक्त होने का प्रतीक है। जो शिष्य अथवा साधक अपने आपको आकाश के समान व्यापक एवं रिक्त बनाकर, सब प्रकार के भेदभावों से मुक्त होकर, सर्वत्र एकत्व का दर्शन करने लगता है तो वह आकाश, पूर्वरूप पृथिवी को पररूप द्यौ से मिलाने के लिए सन्धि का कार्य करता है तथा वह सन्धि वायु के नियम से होती है। वायु से अभिप्राय है प्राण-शक्ति का बल। मनुष्य के अन्दर कार्य करने का जो भी बल है, उस बल का आधार उसकी प्राण-शक्ति है। प्राण-शक्ति अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि प्राणों की कार्य सञ्चालन की क्षमता। इन्हीं के आधार पर मनुष्य के जीवन तथा उसकी कार्य-क्षमता का निर्धारण होता है। अधिलोक संहिता में सन्धान अर्थात् आकाश रूप सन्धि के लिए नियम रूप में विद्यमान वायु अर्थात् कर्म ही प्रमुख कारण है पाप-पुण्य रूप सकाम कर्म परिणाम में बन्धनों का ही कारण बनते हैं। बन्धन बनाने वाला कर्म चाहे लोहे की हथकड़ी रूप हो अथवा सोने की अन्ततः तो बन्धन का ही कारण है। आकाश रूप सन्धि के लिए जहाँ आकाश व्यापकता, ज्ञान एवं शून्यता का प्रतीक है, वहाँ पाप-पुण्य रूप सकाम कर्मों का नियम आकाश सन्धि का कारण होना सम्भव नहीं है। आकाश रूप सन्धि के

^{१४} अष्टाध्यायी १.४.१०९

^{१५} अधिलोकमधिज्योतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् ता महासंहिता इत्याचक्षते। तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा वल्ली, अनुवाक-३, मन्त्र-२

लिए वायु अर्थात् रागात्मक एवं द्वेषात्मक कर्मों से मुक्ति प्रदान करने वाले अकाम कर्म ही कारण बन सकते हैं। अधिलोक महासंहिता में जमीन पर खड़ा हुआ साधक वायुरूप अकाम कर्मों के माध्यम से आकाश रूप को प्राप्त कर द्यौ रूप लक्ष्य तक पहुँचता है।

अधिज्यौतिष महासंहिता-

अधिलोक नामक प्रथम सोपान रूप महासंहिता में द्यौ रूप लक्ष्य को प्राप्त करके साधक द्वितीय सोपान रूप अधिज्यौतिष महासंहिता में प्रवेश पाता है। अधिलोक संहिता में जो द्यौ उत्तर रूप में वर्णित था, वह द्यौ अर्थात् अग्नि अधिज्यौतिष संहिता में प्रारम्भिक बिन्दु होने के कारण पूर्वरूप है। 'आदित्य' उत्तर रूप है। आपः सन्धि और वैद्युत सन्धान है।^{१६} अधिलोक महासंहिता में द्यौ अर्थात् प्रकाशरूप उच्च स्थिति को प्राप्त साधक अधिज्यौतिष नामक महासंहिता में पहुँचकर अग्निरूप पूर्वरूपता को उपलब्ध होता है। अग्नि शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क लिखते हैं- अग्नि कस्मात्? अग्रणीर्भवति^{१७}। अग्नि अर्थात् आगे बढ़ना। अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्व-गगन है। जलती हुई किसी लकड़ी को कितना भी नीचे की ओर किया जाए परन्तु उसकी लपट ऊपर की ओर ही जाती है। चेतना के उन्नयन का इच्छुक जो साधक आगे अर्थात् चेतना के ऊर्ध्व-गमन के मार्ग पर अग्रसर हो चुका है, वह आगे बढ़ने का उसका स्वरूप अग्नि है। अग्नि यहाँ अर्थात् अधिज्यौतिष महासंहिता में पूर्वरूप है। पूर्वरूप का लक्ष्य उत्तररूप आदित्य है, अब अग्निरूप को आदित्यरूप प्राप्त करना है। दिति शब्द 'दो अवखण्डने'^{१८} धातु से बनता है। जिसका तोड़ने का स्वभाव है वह दिति है तथा जिसका जोड़ने का स्वभाव है, वह अदिति है। अदिति की सन्तान आदित्य है, आदित्य अर्थात् जोड़ना। खण्ड-खण्ड के रूप में देखने की दृष्टि को छोड़कर समग्रता में, अखण्डता में, समष्टि में देखना, सुनना एवं व्यवहार करना ही आदित्यरूप हो जाना है। अग्नि एवं आदित्य के मध्य विद्यमान रिक्तता को पूर्णता प्रदान कर दोनों की सन्धि कराने का उपकरण 'आपः' सन्धिरूप है। आपः शब्द में 'आप्तु व्याप्तौ'^{१९} धातु है। आपः अर्थात् व्याप्त होने के सामर्थ्य से सम्पन्न होना। जिसमें व्याप्त होने का सामर्थ्य होगा, वहीं आदित्य रूप लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होगा। जिसमें व्याप्त होने की सामर्थ्य नहीं है, वह खण्ड-खण्ड में जीने वाला, केवल मात्र व्यष्टिपरक व्यवहार करने वाला स्वार्थी व्यक्ति कभी भी आदित्यरूप को प्राप्त करने का स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकता। 'आपः' रूप सन्धि के माध्यम से अग्नि से आदित्यरूप लक्ष्य को उपलब्ध होने का सन्धान अर्थात् नियम 'वैद्युत' है। विशेषण द्योतते इति विद्युत्। हम सभी ने आकाश में विद्युत् को क्षणभर के लिए आते एवं क्षणभर के लिए जाते प्रकाश को देखा है। इस विद्युत् रूप स्थिति में साधक को जब प्रकाश मिलता है तब उसे मार्ग दिखाई देता है तथा जब प्रकाश नहीं मिलता तो मार्ग दिखाई नहीं देता। आँखमिचोनी

१६ अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धि। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा वल्ली, अनुवाक-३

१७ निरुक्त, अध्याय-७, पाद-४

१८ धातुपाठ, दिवादिगण- ११७३

१९ धातुपाठ, स्वादिगण- १८६३

वाली इस स्थिति से ऊपर उठकर जब साधक व्यापकत्व को उपलब्ध हो जाता है तब वह आदित्यरूप लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है तथा यह स्थिति अधिज्यौतिष महासंहिता कहलाती है।

अधिविद्यम् महासंहिता-

महासंहिता के द्वितीय सोपान अधिज्यौतिष में आदित्य रूप को उपलब्ध साधक जब महासंहिता के तृतीय सोपान अधिविद्यम् में प्रविष्ट होता है तो आचार्य उसका पूर्वरूप है, अन्तेवासी उसका उत्तररूप है। पूर्वरूप और पररूप की सन्धि 'विद्या' है। सन्धान अर्थात् उसका नियम प्रवचन है^{२०}। अधिज्यौतिष महासंहिता में आदित्यरूप, उत्तररूप को प्राप्त साधक का अधिविद्यम् महासंहिता में आचार्य पूर्वरूप एवं अन्तेवासी उत्तररूप है। आचार्य शब्द का निर्वचन आचार्य यास्क निरुक्त में इस प्रकार करते हैं-“आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा”^{२१} आदित्यरूप को उपलब्ध जिस साधक ने अखण्डत्व को, व्यापकत्व को प्राप्त करके ज्ञान को अपने अन्दर धारण करके आचरण में उतार लिया है वह आचार्य अधिविद्यम् महासंहिता में पूर्वरूप है। ज्ञान को धारण करना ही ज्ञान है, ज्ञान की सार्थकता है अन्यथा वह सूचनाओं का भार है तथा उस भार को ढोने वाला गर्दभ के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। “ज्ञानं भारः क्रियां विना”^{२२} आचार्य पूर्वरूप है एवं अन्तेवासी होना आचार्य का उत्तररूप अर्थात् लक्ष्य है। लौकिक संस्कृत में 'अन्तेवासी' शब्द का अर्थ शिष्य है। यहाँ पर विचारणीय विषय यह है कि आचार्य का लक्ष्य, शिष्य होना कैसे युक्तिसंगत माना जाए? शिष्य शब्द का अर्थ है, जो गुरु द्वारा अनुशिष्ट अर्थात् शिक्षित किया गया है। अन्तेवासी शब्द का अर्थ यदि उपर्युक्त शिष्य के अर्थ वाला ग्रहण किया जाए तो अन्तेवासी को उत्तररूप अर्थात् लक्ष्य मानना सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः अन्तेवासी अर्थात् अन्दर की ओर निवास करने वाला। अन्तेवासी शब्द की उत्तररूप अर्थात् लक्ष्यरूप में सही स्थिति के लिए अन्तः अर्थात् अन्दर बीजरूप में विद्यमान ईश्वरीय गुणों का जो निवास है, उनको प्रकाशित करके प्रकट किया जाए तो वह पूर्वरूप आचार्य का, उत्तररूप अन्तेवासी हो सकता है। आचार्य और अन्तेवासी के मध्य जो दूरी है, उस दूरी को दूर कर दोनों की परस्पर सन्धि विद्यारूपी साधन के माध्यम से होती है। विद्या का अभिप्राय दूसरों के द्वारा लिखी गई पुस्तकों के अध्ययन से कतई नहीं है।

विद्या शब्द 'विद् ज्ञाने'^{२३} धातु से बनता है। ज्ञान अर्थात् स्वयं से स्वयं को जानना। स्वयं को स्वयं से जानकर सदैव जाग्रत अवस्था में रहना ही विद्या है। विद्यारूप सन्धि से आचार्य अन्तेवासीरूप लक्ष्य को उपलब्ध होता है। यह सन्धि प्रवचनरूप सन्धान अर्थात् नियम से होती है। प्रवचन प्रकृष्ट वचन अर्थात् जहाँ वैखरी वाणी की आवश्यकता समाप्त हो जाए तथा मौन के माध्यम से ही ज्ञान का प्रकटीकरण होने लगे। इस प्रकार मौनज्ञान को

२० अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्। इत्यधिविद्यम्। तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा बल्ली, अनुवाक-३, मन्त्र-४

२१ निरुक्त, प्रथम-अध्याय, चतुर्थ-पाद

२२ पञ्चतन्त्र, मित्रलाम, श्लोक- १७

२३ धातुपाठ, अदादिगण- १०७९

प्रकटीकरण के नियम से जागृत अवस्था को उपलब्ध साधक आचार्य से अन्तेवासीरूप उच्च अवस्था को प्राप्त करता है। साधक की यह स्थिति अधिविद्यम् महासंहिता कहलाती है।

अधिप्रजम् महासंहिता-

अधिविद्यम् महासंहिता में अन्तेवासी रूप को उपलब्ध साधक जब महासंहिता के चतुर्थ सोपान अधिप्रजम् में प्रविष्ट होता है तो माता उसका पूर्वरूप एवं पिता उत्तररूप होता है। पूर्वरूप एवं उत्तररूप की सन्धि यहाँ प्रजा है तथा प्रजनन सन्धान है^{२४}। अन्तेवासी रूप को प्राप्त साधक जिसने उसके अन्दर बीजरूप में निहित गुणों अथवा शक्तियों का विकास कर उन गुणों को प्रकट कर लिया है, अधिप्रजम् महासंहिता में निर्माण करने की, सृजन करने की सामर्थ्य से सम्पन्न होकर पूर्वरूप में 'माता' रूपी सामर्थ्य को उपलब्ध हो जाता है। अन्तेवासी होने पर ही मातारूप को उपलब्ध होना सम्भव है। परम-पिता परमेश्वर में अनन्त प्रकार का सृजन सामर्थ्य है। प्रकृति में कोई भी दो वस्तुएं एक जैसी नहीं दिखाई देतीं। पृथ्वी पर आठ अरब मनुष्य हैं परन्तु किसी के भी एक दूसरे से अँगूठे के निशान नहीं मिलते। परम-पिता परमेश्वर का यह सृजन-सामर्थ्य ही माता का रूप है। अधिप्रजम् में साधक इसी माता के रूप को उपलब्ध हो जाता है। मनुस्मृति में कहा है-“माता निर्माता भवति।” माता का उत्तररूप पिता है। पिता अर्थात् पालन करने वाला किसी भी सृजन का जब तक पालन संरक्षण न किया जाए तब तक वह सुरक्षित नहीं रह सकता। सृजन में किसी भी प्रकार की क्षति आने पर उसको पूर्ण करने का सामर्थ्य पिता में होता है। माता और पिता के मध्य सेतु का कार्य प्रजा करती है। प्रजा अर्थात् प्रकृष्टता से उत्पन्न। 'प्रकृष्टतया जायते इति प्रजा' लोक में भी देखा जाता है कि जिन माता-पिता में परस्पर मधुर सम्बन्ध नहीं होते, वे भी सन्तान के ऊपर उनके पृथक्त्व का दुष्प्रभाव न पड़े इसलिए समझौता करके आपस में जुड़े रहते हैं। माता और पिता की सन्धि का कारण प्रजा है। नए निर्माण का सामर्थ्य ही प्रजनन है। प्रजनन का सामर्थ्य ही माता-पिता की सन्धि का कारक हो सकता है। सांसारिक माता-पिता जहाँ सन्तान का निर्माण एवं पालन-पोषण करते हैं, वहीं चेतनोन्नयन के मार्ग का पथिक माता एवं पिता होने के सामर्थ्य को प्राप्त करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्राणी ही उसकी सन्तान होते हैं तथा वह प्राणी-मात्र के कल्याण के लिए ब्रह्माण्ड में जहाँ भी किसी भी प्रकार की क्षति होती है उसकी पूर्ति, निर्माण, पालन एवं पोषण रूप जिस प्रकार की भी आवश्यकता होती है, वह उसे पूर्ण करता है।

अध्यात्मम्-

अध्यात्मम् नामक पाँचवीं एवं अन्तिम महासंहिता में अधरा हनु पूर्वरूप है, उत्तरा हनु उत्तररूप है। अधरा

२४ अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननं सन्धानम्। इत्यधिप्रजम्। तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा बल्ली, अनुवाक-३, मन्त्र-५

हनु और उत्तरा हनु की सन्धि वाक् है एवं जिह्वा सन्धान है।^{२५} इस महासंहिता में अधरा अर्थात् 'न धरतीति', अर्थात् जिसमें धारण करने का सामर्थ्य नहीं है और 'हनु हन्तीति' अर्थात् दुःखों का नाश करने वाली अधरा हनु पूर्वरूप है। यहाँ पर अधरा अर्थात् धारण करने का सामर्थ्य न होने से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अधिलोकम् से प्रारम्भ करके अध्यात्मम् तक की उच्च यात्रा में यदि धारण करने का सामर्थ्य नहीं आया तो यह ऊर्ध्व-गमन की यात्रा कैसे मानी जाए? जबकि अधिविद्यम् महासंहिता में पूर्वरूप में विद्यमान आचार्य धारण सामर्थ्य से सम्पन्न है। इस शंका का निरास इस प्रकार किया जा सकता है कि पाँचों महासंहिताओं में भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों यात्राओं को उच्च से उच्चतर एवं उच्चतर से उच्चतम बिन्दु पर ले जाने वाले मार्ग का वर्णन किया है। यह तो एक सामान्य बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति भी समझ सकता है कि नीचे से ऊपर की यात्रा में ऊपर पहुँचकर निम्न-स्थिति कैसे सम्भव है? पूर्व में आचार्य में जो धारण करने की सामर्थ्य थी, वह सामर्थ्य ज्ञान को समझकर आत्मसात् करने की थी तथा यहाँ अध्यात्मम् महासंहिता में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान को धारण करने की ओर संकेत है। इस स्थिति में पहुँचकर साधक अपने दोषों, अवगुणों एवं विकारों की हिंसा तो कर चुका है परन्तु अभी परमात्मज्ञान को धारण करने के सामर्थ्य का अभाव है। परमात्मज्ञान जब शक्ति रूप में परिवर्तित हो जाता है तब धारण करने की सामर्थ्य आती है। पाँच तन्मात्राओं पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश में पूर्व की चार तन्मात्राएं बल, तेज और ओज अधरा हनु हैं। उत्तरा हनु उत्तररूप है। उत्तरा अर्थात् आकाशरूप तन्मात्रा की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त होने पर हनु अर्थात् दुःखों नाश स्वतः ही हो जाता है। पूर्वरूप एवं उत्तररूप को परस्पर मिलाने का साधन वाक् सन्धि है। जब साधक आत्म-ज्ञान एवं परमात्म-ज्ञान को धारण करने में समर्थ हो जाता है तब ईश्वरीय प्रसाद के रूप में उसे परा वाक् की उपलब्धि होती है, वह परा वाक् ही अधरा हनु और उत्तरा हनु को परस्पर जिह्वा के सन्धान अर्थात् नियम से मिलती है। जिह्वा का नियम अर्थात् 'जयति रसम् अनया' इति। उपनिषदों में परमात्मा का स्वरूप वर्णित करते हुए उसे रसरूप कहा है—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'^{२६}। परमात्मा रसरूप है तथा उसे प्राप्त करने वाला भी उस रस को प्राप्त करके आनन्दित हो जाता है। जिह्वा उस रस का प्रतिनिधित्व करती है। अध्यात्म के उच्च शिखर आनन्दरूप को रस के माध्यम से अथवा वाक् के नियम से अधरा हनु को उत्तरा हनु से मिलाया जाता है। इस प्रकार पाँच संहिताओं के माध्यम से साधक पृथिवी से अपनी यात्रा को आरम्भ करके परमानन्द स्वरूप रसरूपता को उपलब्ध होकर सभी प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक अभावों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। न केवल अभावों से मुक्ति प्राप्त करता है अपितु प्रजा, पशु, धन-धान्यादि भौतिक ऐश्वर्य एवं ब्रह्मवर्चस् अर्थात् ज्ञान का शक्ति रूप हो जाना, आध्यात्मिक ऐश्वर्य को उपलब्ध हो जाता है^{२७}।

२५ अथाध्यात्मम्। अधरा धनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः जिह्वा सन्धानम्। इत्याध्यात्मम्। तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा बल्ली, अनुवाक-३, मन्त्र-६

२६ तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली-३७

२७ इतीमा महासंहिता। य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनाच्चाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन। तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा बल्ली, अनुवाक -३, मन्त्र-७

इन पाँच संहिताओं को निम्न तालिका के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

महासंहिता	पूर्वरूप	उत्तरपूर्व	सन्धि	सन्धान
१. अधिलोक	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
२. अधिज्यौतिष	अग्नि	सूर्य	जल	विद्युत्
३. अधिविद्य	आचार्य	अन्तेवासी (शिष्य)	विद्या	प्रवचन
४. अधिप्रज	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
५. अध्यात्म	अधराहनु	उत्तराहनु	वाणी	जिह्वा

इन पाँच महासंहिताओं के माध्यम से तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि ने मानव-चेतना भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को उपलब्ध होकर समस्त प्रकार के अभावों से मुक्त एवं समस्त सुखों से युक्त हो सकने के रहस्यों को उद्घाटित किया है। जीवन की गाड़ी में भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्य दो पंखों के समान हैं। जब दोनों पंख स्वस्थ एवं समृद्ध होंगे तभी जीवन में सन्तुलन आएगा अन्यथा किसी एक के अभाव में सन्तुलन न होने से सुख को उपलब्ध नहीं हुआ जा सकता। अन्य उपनिषदों में भी लौकिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्यों का समान महत्त्व विभिन्न नामों से जैसे कि 'विद्या अविद्या' 'परा विद्या-अपरा विद्या', 'देवयान-पितृयान' आदि के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है।

लकारार्थ-विमर्श

डॉ० अभय सिंह

सहायकाचार्य, संस्कृतविभाग, सेण्ट स्टीफंस महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो० ओमनाथ बिमली

विभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग, निदेशक, हिन्दू अध्ययन केन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

व्याकरण शास्त्र में सामान्यतः लकार के 'कर्ता, कर्म, काल तथा संख्या' अर्थ स्वीकार किए गए हैं। वैयाकरणों का मत है कि लकार का अर्थ 'कर्ता' होता है क्योंकि लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः सूत्र में 'च' पद से कर्तृवाच्य में 'लकार' के 'कर्ता' अर्थ का ज्ञान होता है। किन्तु कुमारिलभट्ट के अनुयायियों का मत है कि 'लकार' का अर्थ 'व्यापार' है। वहीं नैयायिक 'लकार' का अर्थ 'यत्न' मानते हैं।

नैयायिक विद्वान् 'लकार', अर्थात् 'तिब्' आदि आदेशों के स्थानी को ही अर्थ का वाचक मानते हैं उसके स्थान पर आने वाले 'आदेशों' अर्थात् 'तिब्' आदि को वे वाचक रूप में स्वीकार नहीं करते। वैयाकरण 'लकार' अथवा उसके आदेश 'तिबादि' दोनो का अर्थ 'कर्ता' मानते हैं। कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायी मीमांसक 'लकार' का अर्थ 'व्यापार' मानते हैं। ये 'व्यापार' को धातु का अर्थ नहीं मानते। नैयायिकों का मत इन दोनों से भिन्न है। ये विद्वान् 'लकार' का अर्थ 'यत्न' मानते हैं।

शोधशब्द- लकार, लादेश, सकर्मक, अकर्मक, कर्ता, कर्म, तिब् आदि
लकारों का कर्तृत्व-

'लकारों' का अर्थ 'कर्ता' मानने का आधार है 'लः कर्मणि च०' सूत्र। इस सूत्र के दो विभाग किये जाते हैं 'लः कर्मणि च' तथा 'भावे च अकर्मकेभ्यः'। इन दोनों भागों में विद्यमान 'च' पद के द्वारा पूर्ववर्ती 'कर्तरि कृत्' सूत्र से 'कर्तरि' पद का अनुवर्तन किया जाता है। इससे 'लः कर्मणि०' सूत्रार्थ बनता है - "सकर्मक धातुओं से सम्बद्ध 'लकार' 'कर्म' तथा 'कर्ता' का कथन करते हैं" तथा 'अकर्मक' धातुओं से सम्बद्ध 'लकार' 'कर्ता' तथा 'भाव' को कहते हैं"। कुमारिल भट्ट के अनुयायी धातु का अर्थ 'फल' मानते हैं तथा 'लकार' का अर्थ 'व्यापार' को स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों का कहना है कि 'कर्ता' 'व्यापार' का आश्रय है इसलिये उसका ज्ञान तो लक्षणा वृत्ति के द्वारा बिना उसे लकारार्थ माने ही हो जायेगा। अतः 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इस न्याय के अनुसार 'कर्ता' को लकारार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। मीमांसकों के अनुसार किसी विशेष प्रयोजन को पूरा करने की इच्छा से उत्पन्न क्रियाविषयक मानसिक प्रवृत्ति ही 'व्यापार' है। इस मानसिक प्रवृत्ति को मीमांसकों ने 'आर्था'

१ अष्टा.३.४.६७

२ 'लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युः, अकर्मकेभ्यः भावे कर्तरि च। सि.कौ. ३.४.६८

भावना' नाम दिया है। यह 'व्यापार' या 'आर्थी भावना' क्रिया पद के 'आख्यात' (लकार) अंश का वाच्यार्थ है क्योंकि आख्यात सामान्यतया 'व्यापार' का वाचक होता है।^३

नैयायिक विद्वान् 'फल' तथा 'व्यापार' को धातु का अर्थ मानते हैं तथा 'लकार' का अर्थ 'कृति' अथवा 'यत्न' मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में नैयायिक यह कहते हैं कि 'लकार' का वाच्यार्थ वैयाकरण मत के अनुसार 'कर्ता' अथवा मीमांसक मत के अनुसार 'व्यापार' मानने में गौरव है परन्तु नैयायिकों के मत के अनुसार 'कृति' (यत्न) अर्थ मानने में लाघव है।

यदि लकारों का अर्थ 'कर्ता' माना गया तो कर्ता 'कृति' से युक्त होता है इसलिए प्रत्येक 'कर्ता' के अनुसार 'कृति' भिन्न भिन्न रूप में उपस्थित होगी। अनन्त रूपों में 'कृति' का उपस्थित होना ही गौरव है। 'कृति' अर्थ मानने में यह गौरव (विस्तार) दोष नहीं आता क्योंकि सभी 'कृतियों' में कृतित्व जाति के एक होने के कारण उसे वाच्यार्थता का आधार मानने में लाघव बना रहता है। इसके अतिरिक्त 'कर्ता' को वाच्यार्थ मानने का अर्थ है 'कृतिमान्' को वाच्य मानना। इसलिये 'कृति' की अपेक्षा 'कृतिमान्' के 'गुरु' होने के कारण भी 'कर्ता' को वाच्यार्थ मानने में गौरव है। इसके साथ ही वाक्य के प्रथमा विभक्त्यन्त पद से ही 'कर्ता' के बोध हो जाने के कारण 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इस न्याय के अनुसार 'लकार' का अर्थ 'कर्ता' नहीं मानना चाहिए।

इसी प्रकार नैयायिकों के मतानुसार 'व्यापार' को 'लकार' का वाच्यार्थ मानने में भी गौरव है क्योंकि 'व्यापार' की परिभाषा की गयी है- 'धात्वर्थफल-जनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम्', अर्थात् धातु के अर्थ 'फल' का उत्पादक होते हुए जो धातुवाच्य हो वह 'व्यापार' है। इसलिये 'व्यापार' को वाच्यार्थ मानने का अभिप्राय है एक इतनी लम्बी परिभाषा 'लकार' के अर्थ के साथ सदा जुडी रहे। इस रूप में वाच्यार्थता का आकार गुरु होने के कारण 'व्यापार' को वाच्यार्थ मानने में गौरव है। 'कृति' को लकारार्थ मानने में इस प्रकार का कोई भी दोष नहीं आता। अतः लाघव के कारण 'कृति' जाति अथवा 'यत्न' को 'लकार' का अर्थ मानना ही युक्त है।^४

'सकर्मक' तथा 'अकर्मक'-

फल के आश्रय से भिन्न आश्रय वाले 'व्यापार' का वाचक होना 'सकर्मकत्व' तथा फल के आश्रय से अभिन्न आश्रय में रहने वाले 'व्यापार' का वाचक होना 'अकर्मकत्व' है।^५ कहीं कहीं पर 'फल' अंश के सर्वथा अभाव के कारण 'अकर्मकता' मानी जाती है। जैसे 'अस्ति' (है) आदि क्रियापदों में केवल सत्ता आदि ही अर्थ हैं क्योंकि इनमें 'फल' अंश की प्रतीति नहीं हो पाती तथा 'उत्पन्न' हुए द्रव्य की आत्मधारणरूप सत्ता को 'अस्ति' आदि प्रयोग कहते हैं यह निरुक्त का कथन है।^६

३ "प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थी भावना। सा च आख्यातत्वांशेन उच्यते। आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्" अ.सं. ८

४ 'सकर्मकत्वम्' च फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्। फल-समानाधिकरणव्यापार-वाचकत्वम् 'अकर्मकत्वम्'। प.ल.म. धा.नि.

५ क्वचित् तु फलांशाभावाद् 'अकर्मकत्वम्'। यथा- 'अस्ति' आदौ केवलं सत्तादिरेवार्थः। फलांशस्य सूक्ष्म-दृष्ट्याऽप्यप्रतीतेः। "उत्पन्नस्य सत्त्वस्य

स्वरूपधारण रूपां सत्ताम् आचष्टे अस्त्यादिः" इति निरुक्तोक्तेश्च। प.ल.म. धा.नि.

कौण्डभट्ट के वैयाकरणभूषणसार में 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की परिभाषा के लिए भट्टोजिदीक्षित की निम्न कारिका प्रस्तुत की गयी है-

फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायाम् अकर्मकः । धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः ।।^६

'फल' तथा 'व्यापार' के एक अधिकरण में रहने पर धातु 'अकर्मक' तथा धर्मी अर्थात् - 'फल' और 'व्यापार' रूप धर्म से युक्त दो आश्रय के भिन्न भिन्न होने पर धातु 'सकर्मक' कही गयी है। कारिका के 'एकनिष्ठता' पद का अर्थ कौण्डभट्ट ने 'एकमात्रनिष्ठता' किया है अर्थात् केवल एक अधिकरण या आश्रय में ही दोनों 'फल' तथा 'व्यापार' का रहना या दूसरे शब्दों में भिन्न अधिकरण में 'फल' तथा 'व्यापार' का न रहना। इसीलिये 'गम्' आदि धातुओं में 'फल' के कर्तृनिष्ठ होने पर भी उन्हें 'अकर्मक' नहीं माना जाता क्योंकि वहाँ 'फल' कर्मस्थ भी है अतः एक अधिकरण में ही 'फल' नहीं है।

'अस्' आदि धातुओं का अर्थ केवल सत्ता ही है। इस कारण यहाँ 'फल' अंश की प्रतीति होती ही नहीं। इसलिये इस प्रकार की धातुओं को 'फल' अंश के न होने के कारण 'अकर्मक' मान लिया जाता है। वस्तुतः इन धातुओं के विषय में भी यह माना गया है कि यहाँ भी अपनी सत्ता को धारण करने रूप 'फल' के अनुकूल 'व्यापार' की प्रतीति होती है। परन्तु स्वधारणात्मक 'फल' तथा तदनुकूल 'व्यापार' दोनों ही एक अधिकरण 'कर्ता' में ही विद्यमान हैं। इसलिये इन धातुओं को 'सकर्मक' नहीं माना जा सकता अर्थात् आत्मधारणरूप 'फल' का आश्रयभूत 'कर्म' 'कर्ता' में ही अन्तर्भूत हो जाता है- 'कर्ता' से पृथक् उसकी सत्ता नहीं है। इसलिये आश्रय-भिन्नता के न होने के कारण 'अस्' आदि धातुओं को 'अकर्मक' ही माना जाता है। 'अस्' आदि धातुओं की इस स्थिति को निम्न कारिका में भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है-

आत्मानम् आत्मना बिभ्रद् अस्तीति व्यपदिश्यते । अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः ।।^७

अपनी सत्ता को अपने द्वारा धारण करता हुआ अर्थात् सत्तानुकूल व्यापारवान् होता हुआ (व्यक्ति) 'अस्ति' इस प्रयोग के द्वारा कहा जाता है। किन्तु इस सत्ता रूप 'फल' के आश्रयभूत 'कर्म' के द्वारा वह 'अस्' धातु 'सकर्मक' नहीं होती क्योंकि 'कर्म' यहाँ 'कर्ता' में अन्तर्भूत हुआ रहता है। नागेश ने सम्भवतः 'सत्ता-धारण' को 'फल' न मानते हुए यहाँ फलांश की अप्रतीति की बात कही है।

नागेश मत में 'सकर्मक' तथा 'अकर्मक' की परिभाषा-

नागेश के मतानुसार व्याकरणशास्त्रीय 'कर्म' संज्ञक अर्थ से अन्वित होने धातुएं 'सकर्मक' तथा उससे अन्वित न होने वाली धातुएं 'अकर्मक' होती हैं। इसी कारण 'अध्यासिता भूमयः' (भूमियों पर बैठा गया) इत्यादि

६ वै.भू.सा. धा.नि. का. सं. १३

७ वा.प. ३.३.४७

प्रयोगों की सिद्धि होती है। 'अध्यासिता भूमयः' इस प्रयोग में 'भूमयः' इस आधार की 'अधि-शीङ्-स्था-आसां कर्म' इस सूत्र से 'कर्म' संज्ञा है। अतः 'कर्म' संज्ञक अर्थ से अन्वित होने के कारण 'आस्' धातु यहाँ 'सकर्मक' है।^८

कौण्डभट्ट की 'सकर्मक-अकर्मक' विषयक व्यवस्था के अनुसार उन धातुओं को जिनमें देश, काल आदि को कर्म माना जाता है अथवा 'अधि' उपसर्ग के साथ 'शी', 'स्था' और 'आस्' धातुओं या इस प्रकार की स्थिति वाले अन्य धातुओं को, 'सकर्मक' नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें 'फल' से भिन्न अधिकरण वाले 'व्यापार' की वाचकता नहीं है। इसलिये इन धातुओं से 'कर्म' में 'लकार' या 'क्त' आदि प्रत्यय नहीं आ सकते। इस कारण नागेश ने 'सकर्मक' की अपनी नवीन परिभाषा दी है।

नागेश की परिभाषा "शब्दशास्त्रीय 'कर्म' संज्ञक अर्थ से अन्वित अर्थ वाले धातु 'सकर्मक' हैं" के अनुसार 'अध्यासिताः भूमयः' इत्यादि प्रयोगों में 'आस्' आदि धातुओं की 'सकर्मकता' सिद्ध हो जाती है क्योंकि व्याकरण के सूत्र 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' के अनुसार 'अधि' उपसर्ग के साथ 'आस्' धातु के प्रयोग में 'आधार' की कर्म संज्ञा होती है। इसलिये 'कर्म' सञ्ज्ञक 'भूमि' रूप अर्थ से अन्वित होने वाले अर्थ का वाचक होने के कारण 'अधि + आस्' को 'सकर्मक' माना जाएगा।

'सुप आत्मनः क्यच्' सूत्र के भाष्य में 'क्यच्'- प्रत्ययान्त धातुओं को 'सकर्मक' माना जाए अथवा नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा गया है कि 'इष्' धातु जिसके अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय का विधान किया गया है- 'सकर्मक' है इसलिये क्यजन्त धातु को भी 'सकर्मक' मानना चाहिये। किन्तु भाष्यकार पतञ्जलि ने इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए यह कहा कि - "अभिहितं तत्कर्मन्तर्भूतं धात्वर्थः सम्पन्नः। न चेदानीम् अन्यत् कर्म अस्ति येन सकर्मकः स्यात्" अर्थात् 'पुत्रीय' आदि नामधातुओं के द्वारा ही वह अर्थ कह दिया गया। अतः वह 'कर्म' अन्तर्भूत होकर धात्वर्थ में ही समाविष्ट हो गया। अब कोई अन्य 'कर्म' है नहीं जिसके कारण उसे 'सकर्मक' माना जाए। 'पुत्रीयति माणवकम्' (माणवक के साथ पुत्र के समान व्यवहार करता है) इस प्रयोग में तो दो 'कर्म' - 'उपमानकर्म' तथा 'उपमेयकर्म' - हैं। इसलिये 'उपमान- कर्म' के अन्तर्भूत हो जाने पर भी 'उपमेयकर्म' से अन्वित अर्थ वाला होने के कारण धातु 'सकर्मक' हो जाती है।

'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' सूत्रार्थ विचार-

"लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः" सूत्र का अर्थ है - सकर्मक धातुओं से लकारों के स्थान में होने वाले लादेश अर्थात् 'तिबादि' कर्म तथा कर्ता अर्थों का कथन करते हैं तथा अकर्मक धातुओं से कर्ता तथा भाव अर्थों का कथन किया जाता है जैसे 'पठ्' धातु के सकर्मक होने से इससे विहित होने वाले लकार या 'तिबादि' लादेश तो कर्मवाच्य तथा कर्तृवाच्य में होते हैं; जबकि 'आस्' धातु के अकर्मक होने से इससे विहित होने वाले लकार अथवा 'तिबादि' लादेश भाववाच्य तथा कर्तृवाच्य में होते हैं। उदाहरणार्थ-

^८ वस्तुतस्तु शब्दशास्त्रीय कर्मसंज्ञकार्थान्वयर्थकत्वं 'सकर्मकत्वम्' । तदनन्वयर्थकत्वम् 'अकर्मकत्वम्' । तेन 'अध्यासिता भूमयः' इत्यादिसिद्धिः ।

'अधिशीङ्स्था- साम्' (पा० १.४.४६) इत्यनेन 'भूमयः' इत्याधारस्य 'कर्मत्वम्' । प.ल.म. धा.नि.

९ अष्टा. ३.४.६९

सकर्मक - 'गम्यते ग्रामो देवदत्तेन' (कर्मवाच्य); 'ग्रामं गच्छति देवदत्तः' (कर्तृवाच्य)

अकर्मक - 'शय्यते देवदत्तेन' (भाववाच्य); 'शेते देवदत्तः' (कर्तृवाच्य)

प्रदीपकार कैयट का मत है कि किन्हीं आचार्यों के मत में प्रकृत सूत्रस्थ 'ल' ग्रहण उच्चारणार्थ 'अकार' से युक्त प्रथमा का एकवचन है अन्य आचार्य इसे 'लस्य य आदेशः' अर्थात् लकार के स्थान में होने वाले जो आदेश- इस प्रकार षष्ठ्यन्त एकवचन के रूप में मानते हैं। व्याकरणशास्त्र में यह लकार दो प्रकार का माना जाता है- तिङ्गावी तथा अतिङ् (कृत) भावी। तिङ्गावी लकार की 'कृदतिङ्'^{१०} सूत्र द्वारा कृत्संज्ञा का निषेध होने से इन लकारों या 'तिबादि' लादेशों का विधान स्वार्थ (भाव) में प्राप्त होता है वहीं अतिङ् अथवा कृद्भावी लकारों या 'तिबादि' आदेशों का विधान 'कर्त्तरि कृत्' इस सूत्रवचन से कर्त्ता अर्थ में ही प्राप्त होता है इसीलिए इस प्रकृत सूत्र का निर्माण किया गया है।^{११}

भाष्यकार प्रकृत सूत्र को बनाने के प्रयोजन पर विचार करते हुए हैं कि यह सूत्र इसलिए बनाया गया है जिससे लकारों के स्थान में होने वाले ये 'तिप्' आदि आदेश कर्त्ता, कर्म और भाव अर्थों में हो सकें।^{१२} इस पर पूर्वपक्षी के रूप में आक्षेप करते हैं कि यह तो कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि 'भावकर्मणोः'^{१३} इस सूत्र से भाव तथा कर्म अर्थों में आत्मनेपद का विधान किया गया है और 'त', 'आताम्', 'झ' आदि प्रत्यय आत्मनेपदसंज्ञक हैं जोकि लादेश हैं। भाव और कर्म अर्थों में इनका विधान पहले ही किया गया है। इसके अतिरिक्त 'शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम्'^{१४} यह सूत्र शेष धातुओं से कर्त्ता अर्थ में परस्मैपद का विधान करता है।

प्रकृत सूत्र में 'ल' ग्रहण का प्रयोजन -

प्रकृत सूत्र में 'ल' ग्रहण का वार्तिक^{१५} द्वारा प्रयोजन प्रतिपादित करते हैं कि यह 'लग्रहण' सकर्मक की निवृत्ति करने के लिए किया गया है अर्थात् 'लः कर्मणि च०' यह प्रकृत सूत्र यहाँ सकर्मक की निवृत्ति करने के लिए बनाया गया है कि जिससे सकर्मक धातुओं से भाव में लकार अथवा 'तिबादि' लादेश न हो जाएँ।^{१६}

यहाँ प्रदीपकार कैयट कहते हैं कि यदि प्रकृत सूत्र को न बनाया जाए उस स्थिति में जिस प्रकार भाव में विधीयमान 'घञ्' आदि प्रत्यय सकर्मक धातुओं से होते हैं, जैसे- 'ओदनस्य पाकः' तथा 'सूत्रस्य कृतिः' यहाँ ओदन तथा सूत्र कर्म हैं और 'पच्' तथा 'कृ' सकर्मक धातु हैं उसी प्रकार 'भावकर्मणोः' सूत्र द्वारा भाव में विधीयमान

१० अष्टा. ३.१.९३

११ केचिल्ल इति प्रथमां व्याचक्षते। अपरे षष्ठीं लस्य य आदेश इति। तत्र लकारो द्विविधः तिङ्गाव्यतिङ्गावीति। तत्र तिङ्गाविनः कृत्संज्ञानिषेधात् कर्त्तरि कृदित्यस्यानुपस्थानात् स्वार्थे भावे विधानं प्राप्नोति। अतिङ्गाविनस्तु कर्त्तरि कृदिति वचनात्कर्त्तर्येव साधुत्वं प्राप्नोतीति वचनम्। प्र.३.४.६९

१२ किमर्थमिदमुच्यते? ल एतेषु साधनेषु यथा स्यात्- कर्त्तरि च कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्य इति। महा.भा.३.४.६९

१३ अष्टा. १.३.१३

१४ अष्टा. १.३.७८

१५ लग्रहणं सकर्मकनिवृत्त्यर्थम्। भा.वा.३.४.६९

१६ लग्रहणं क्रियते सकर्मकनिवृत्त्यर्थम्। सकर्मकाणां भावे लो मा भूदिति। महा.भा.३.४.६९

लकार या इसके स्थान में होने वाले आत्मनेपदसंज्ञक 'त' आदि प्रत्यय फिर सकर्मक धातुओं से भी भाव में प्राप्त होने लगेंगे जो अनिष्ट हैं जबकि सकर्मक धातुओं से तो लकार या 'तिबादि' लादेश सदा कर्म में ही होते हैं तात्पर्य यह है कि जैसे सकर्मक धातुओं से भाव में 'घञ् आदि कृदन्त प्रत्यय होते हैं उसी प्रकार इनसे भाव में तिङन्त प्रत्यय भी प्राप्त होने लगते हैं। उनके प्रतिषेध के लिए यह सूत्र बनाया गया है क्योंकि 'भावे चाऽकर्मकेभ्यः' सूत्र का अर्थ है कि अकर्मक धातुओं से ही भाव में लकार होते हैं, सकर्मक धातुओं से नहीं। किन्तु इस सूत्र के अभाव में पूर्वोक्त अनिष्ट प्राप्त होता है।

सकर्मक धातुओं से भाव में लादेश न होना रूप निर्दिष्ट प्रयोजन का खण्डन-

किन्तु भाष्यकार सकर्मक धातुओं से भाव में लादेश न होना रूप इस निर्दिष्ट प्रयोजन का खण्डन करते हैं। यदि आत्मनेपद का विधान करने वाले 'भावकर्मणोः' इस सूत्र में ही यदि 'अकर्मक' ग्रहण कर दिया जाए अर्थात् इस सूत्र को ही 'भावकर्मणोरकर्मकात्' ऐसा सूत्र बना दिया जाए तो?^{१७} ऐसी स्थिति में 'भावकर्मणोरकर्मकात्' ऐसा सूत्र होने पर अकर्मक धातुओं से ही भाव में लकार या तिबादि लादेश होंगे, सकर्मक से नहीं और इस अतिरिक्त 'अकर्मक' ग्रहण के सामर्थ्य से फिर 'अकर्मकात्' ग्रहण का सम्बन्ध कर्म से न होकर भाव से ही होगा क्योंकि अकर्मक धातुओं का कर्म सम्भव नहीं होता है।

सूत्रारम्भ पक्ष तथा सूत्रानारम्भ पक्ष-

सूत्रारम्भपक्षी कहता है कि यहाँ 'अकर्मक' ग्रहण करना चाहिए। इस पर सूत्रप्रत्याख्यानवादी कहता है कि क्यों, यहाँ इस प्रकृत सूत्र में आपको भी तो यह 'अकर्मक' ग्रहण करना ही पड़ता है क्योंकि यह उसी बात में तात्पर्यग्राहक है कि अकर्मक धातुओं से भाव में ही लकार होते हैं सकर्मक धातुओं से नहीं।^{१८} इस प्रकार यहाँ तक सूत्रारम्भवादी तथा सूत्रप्रत्याख्यानवादी दोनों समान स्तर पर हैं।

इस पर सूत्रारम्भवादी इस 'अकर्मक' ग्रहण को 'परार्थ' के लिए प्रतिपादित करते हुए कहता है कि यह जो आपका 'भावे चाऽकर्मकेभ्यः' वचन है यह तो 'परार्थ' अर्थात् 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः'^{१९} इस उत्तरसूत्र के लिए हो जाएगा, क्योंकि वहाँ उस उत्तरसूत्र में 'भावे चाऽकर्मकेभ्यः' ग्रहण की अनुवृत्ति के साथ 'तयोः' शब्द से भाव और कर्म ये दोनों अर्थ लेने हैं। इसलिए यहाँ परार्थ 'अकर्मक' ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक है।^{२०} इस तरह सूत्रारम्भवादी के इस पक्ष में लाघव है।

१७ यदि पुनस्तत्रैवाऽकर्मकग्रहणं क्रियेत । महा.भा.३.४.६९

१८ तत्तत्राऽकर्मकग्रहणं कर्तव्यम् । ननु चेहापि क्रियते- 'भावे चाऽकर्मकेभ्यः' इति । वही

१९ अष्टा. ३.४.७०

२० परार्थमेतद्भविष्यति- 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' भावे चाऽकर्मकेभ्यः इति । महा.भा.३.४.६९

इस पर सूत्रप्रत्याख्यानवादी इस लाघव पर आपत्ति करता है कि फिर भी जितना यहाँ इस प्रकृत सूत्र में 'ल' ग्रहण से अभिप्राय निकलता है उतना ही अभिप्राय 'भावकर्मणोः' सूत्र में किए जाने वाले अतिरिक्त पूर्वोक्त 'अकर्मक' ग्रहण से निकलता है।^{२१}

यहाँ प्रदीपकार कहते हैं कि 'तयोरेव०' सूत्र को पूरा स्पष्ट करने के लिए 'कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' इतना अंश तो सूत्रारम्भवादी तथा सूत्रप्रत्याख्यानवादी इन दोनों ही पक्षों में पढ़ना आवश्यक होगा। किन्तु इसके साथ ही सूत्रारम्भवादी को जहाँ इस प्रकृत सूत्र में 'ल' शब्द का अतिरिक्त ग्रहण करना होगा वहाँ सूत्रप्रत्याख्यानवादी को 'भावकर्मणोः' सूत्र में 'अकर्मकात्' शब्द का अतिरिक्त ग्रहण करना होगा। इस प्रकार उक्त दोनों पक्षों में एक - एक पद का अधिक उच्चारण करना ही पड़ेगा। अतः अतिरिक्त पद को पढ़ने की दृष्टि से तो ये दोनों ही पक्ष समान स्तर पर हैं।^{२२}

सूत्रारम्भवादी द्वारा उभयपक्ष में वैशिष्ट्य का कथन -

इन दोनों पक्षों में यह वैशिष्ट्य है कि यदि यहाँ इस प्रकृत सूत्र में 'ल' ग्रहण करते हैं अर्थात् यदि इस प्रकृत सूत्र को बनाते हैं तब आत्मनेपदसंज्ञक यह 'शानच्' प्रत्यय 'कर्ता' अर्थ में सिद्ध हो जाता है क्योंकि यह 'शानच्' भी लट्लकार के स्थान में होने से लादेश है और 'तडानावात्मनेपदम्'^{२३} सूत्र से यह 'शानच्' प्रत्यय आत्मनेपदसंज्ञक भी है।^{२४} इसके विपरीत यदि यहाँ 'भावकर्मणोः' इस सूत्र में 'अकर्मकात्' ऐसा पढ़ेंगे तो फिर यह 'शानच्' प्रत्यय कर्ता में नहीं प्राप्त होगा अपितु केवल भाव और कर्म में ही प्राप्त हो सकेगा।^{२५}

'शानच्' का कर्ता अर्थ में प्रतिपादन-

सूत्रप्रत्याख्यानवादी द्वारा अपने पक्ष में पूर्वोक्त विशेष को समाप्त करते हुए 'भावकर्मणोः' सूत्र में 'अकर्मक' ग्रहण करने पर 'शानच्' का कर्ता अर्थ में प्रतिपादन किया जाता है। वह कहता है कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि 'भावकर्मणोः' सूत्र में 'अकर्मक' ग्रहण करने पर भी यह 'शानच्' प्रत्यय कर्ता में सिद्ध हो जाएगा। पूछते हैं कि कैसे सिद्ध हो जाएगा तो इसका उत्तर देता है कि 'भावकर्मणोः' इस सूत्र के बाद आगे आने वाले जितने भी आत्मनेपदविधायक सूत्र हैं, वे सब 'कर्ता' अर्थ को कहने में होते हैं^{२६} अर्थात् 'अनुदात्तडित आत्मनेपदम्'^{२७} इत्यादि

२१ यावदिह लग्नहणं तावत्तत्राऽकर्मकग्रहणम् । वही

२२ सूत्रप्रत्याख्यानवाद्याह - यावदिहेति । कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य इत्येतदत्र प्रदेशे द्वाम्यामपि वक्तव्यम् । त्वया तु ल इत्येतत्पदमत्र कर्तव्यम् । मया भावकर्मणोरित्यत्र अकर्मकग्रहणमिति पदेन पदस्य साम्यम् । मात्रालाघवं त्वत्र न विवक्षितम् । प्र.३.४.६९

२३ अष्टा. १.४.१००

२४ इस 'शानच्' प्रत्यय की 'तडानावात्मनेपदम्' सूत्र द्वारा आत्मनेपदसंज्ञा होने से 'भावकर्मणोः' सूत्र के आदेश से यह भाव तथा कर्म अर्थों का तो अभिधान कर सकता है, कर्ता अर्थ का नहीं क्योंकि इस 'शानच्' के द्वारा कर्ता अर्थ को कहने की व्यवस्था तो केवल 'लः कर्मणि च०' यह प्रकृत सूत्र ही कर सकता है, 'भावकर्मणोः' सूत्र नहीं। इस तरह यह 'शानच्' प्रत्यय 'शयानः' इत्यादि में कर्ता अर्थ का बोध नहीं कर सकता है जोकि अनिष्ट है जबकि प्रकृतसूत्र को रखने पर यह 'शानच्' कर्ता अर्थ में भी सिद्ध हो जाता है।

२५ अयमस्ति विशेषः- इह लग्नहणे क्रियमाणे आनः कर्त्तरि सिद्धो भवति । तत्र पुनरकर्मकग्रहणे क्रियमाणे आनः कर्त्तरि न प्राप्नोति । महा.भा.३.४.६९

२६ तत्रायकर्मकग्रहणे क्रियमाणे आनः कर्त्तरि सिद्धो भवति । कथम्? 'भावकर्मणो' रित्यतोऽन्यद्यदात्मनेपदात्तुक्रमणं सर्वं तत् कर्त्तव्यम् । महा.भा.३.४.६९

सूत्रों से कर्त्ता में आत्मनेपद का विधान हो जाएगा तो फिर यह 'शानच्' प्रत्यय भी 'शयानः' इत्यादि में कर्त्ता अर्थ में ज्ञापित हो जाएगा। ऐसी स्थिति में फिर यह 'शानच्' प्रत्यय जहाँ भाव और कर्म में होगा वहाँ लक्ष्यानुरोधात् कर्त्ता में भी सिद्ध हो जाएगा।

अब भाष्यकार द्विप्रतिषेध के बल से इस 'शानच्' को कर्त्ता अर्थ में वार्तिक^{२८} द्वारा सिद्ध करते हैं।

विप्रतिषेध से यह 'शानच्' कर्त्ता अर्थ में हो जाएगा अथवा 'शानच्' प्रत्यय विप्रतिषेध से 'भावकर्मणोः' इस सूत्र द्वारा होने वाले आत्मनेपद को बाधकर 'कर्त्तरि कृत्'^{२९} इस पूर्वसूत्र से विहित कर्त्ता अर्थ में हो जाएगा। अब यहाँ इस 'शानच्' में 'भावकर्मणोः'^{३०} सूत्र से यह 'शानच्' कर्म में हो या इस 'शानच्' के अतिङ् अर्थात् कृद्भावी होने से यह 'कर्त्तरि कृत्'^{३१} सूत्र द्वारा कर्त्ता अर्थ में हो- इस प्रतिस्पर्धा में विप्रतिषेध से 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र द्वारा कर्त्ता अर्थ में ही होगा।^{३२} इस तरह इस विप्रतिषेध के द्वारा 'शानच्' प्रत्यय धातुमात्र से कर्त्ता अर्थ में सिद्ध हो जाता है।^{३३}

सूत्रारम्भवादी विप्रतिषेध से कर्त्ता अर्थ में होने वाले पूर्वोक्त सिद्धान्त पर वार्तिक^{३४} द्वारा आक्षेप करता है कि इस प्रकार का पूर्वोक्त विप्रतिषेध मानने पर सर्वप्रसङ्ग तो अवश्य प्राप्त होता है अर्थात् यदि इस 'शानच्' को विप्रतिषेध से कर्त्ता अर्थ में माना जाता है तब सभी धातुओं से ही अर्थात् परस्मैपदी धातुओं से भी यह 'शानच्' प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में प्राप्त होगा^{३५} जोकि अनिष्ट है अतः इसे आत्मनेपदी धातुओं से ही होना चाहिए जोकि इष्ट है क्योंकि इस 'शानच्' के भाव, कर्म और कर्त्ता ये तीन अर्थ भी हम आत्मनेपदी धातुओं में ही देखते हैं। ध्यान रहे कि यह आत्मनेपदसंज्ञा 'शानच्' प्रत्यय की होती है, धातु की नहीं। अतः इस 'शानच्' प्रत्यय को विप्रतिषेध से कर्त्ता अर्थ में मानने पर परस्मैपदी धातु से भी फिर आत्मनेपदसंज्ञक 'शानच्' की अनिष्ट प्राप्ति होती है।

२७ अष्टा. १.३.१२

२८ विप्रतिषेधाद्धानः कर्त्तरि। भा.वा.३.४.६९

२९ अष्टा. ३.४.६७

३० अष्टा. १.३.१३

३१ अष्टा. ३.४.६७

३२ विप्रतिषेध में बलवत्ता को निश्चित करने के लिए दोनों सूत्रों का सावकाश होना आवश्यक होता है। तदनुसार 'भावकर्मणोः' इस सूत्र से आत्मनेपद होने का अवकाश तो 'तङ्' प्रत्यय है जहाँ 'कृदतिङ्' सूत्र के नियम से इनकी कृत्संज्ञा न होने से 'कर्त्तरि कृत्' यह सूत्र नहीं प्रवृत्त होता है यथा 'आस्यते' (भाव) तथा 'पच्यते' (कर्म)। इसी प्रकार 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र का अवकाश 'तृच्' इत्यादि कृत् प्रत्यय हैं। यहाँ 'भावकर्मणोः' सूत्र से इनकी आत्मनेपदादि संज्ञाएँ नहीं होती हैं। किन्तु यह 'शानच्' प्रत्यय लट् के स्थान में होने से 'तङ्' प्रत्ययों के समान लादेश भी है और तिडों में न आने से यह अतिङ् या कृत्संज्ञक भी है। अतः यहाँ इन दोनों सूत्रों के द्वारा एकसाथ प्राप्त होने पर फिर विप्रतिषेधमूलक परत्व के कारण 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र के द्वारा यह 'शानच्' प्रत्यय भाव और कर्म अर्थों के स्थान पर केवल कर्त्ता अर्थ में ही होकर इष्ट सिद्ध हो जाएगा।

३३ विप्रतिषेधाद्धानः कर्त्तरि भविष्यति। तत्र 'भावकर्मणोः' इत्येतदस्तु 'कर्त्तरि कृत्' इति कर्त्तरि कृदित्येतद्विष्यति विप्रतिषेधेन। महा.भा.३.४.६९

३४ सर्वप्रसङ्गस्तु। भा.वा.३.४.६९

३५ सर्वभ्यस्तु धातुभ्य आनः कर्त्तरि प्राप्नोति, परस्मैपदिभ्योऽपि। महा.भा.३.४.६९

अब सूत्रप्रत्याख्यानवादी अपने पक्ष में परस्मैपदी धातुओं से प्राप्त होने वाले 'शानच्' प्रत्ययरूप दोष का परिहार करते हुए कहता है कि यह तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ इस विषय में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' यह सूत्र नियमार्थ हो जाएगा कि यदि आत्मनेपद हो तो वह केवल अनुदात्तेत् और ङित् धातुओं से ही हो, अन्य किसी धातु से नहीं जबकि यह 'शानच्' प्रत्यय तो आत्मनेपदसंज्ञक है अतः इस नियम से वह कर्ता अर्थ में परस्मैपदी धातुओं से स्वतः नहीं होगा।^{३६}

सूत्रारम्भवादी 'अनुदात्तङित०' इस सूत्र की नियमार्थता पर आपत्ति करता है कि यदि 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इस सूत्र को नियमार्थ माना जाएगा तो यह विधिसूत्र नहीं बनेगा। अतः 'आस्ते' तथा 'शेते' यहाँ क्रमशः अनुदात्तेत् एवं ङित् 'आस्' और 'शीङ्' धातुओं से आत्मनेपद का विधान कौन करेगा? इसके विपरीत यदि 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इस सूत्र को विध्यर्थ माना जाए तो फिर इस 'शानच्' प्रत्यय का केवल अनुदात्तेत् तथा ङित् धातुओं से होना पूर्वोक्त नियम नहीं प्राप्त होता है जैसे 'आसीनः' तथा 'शयानः' अर्थात् यह शानच् प्रत्यय पूर्वोक्त उदाहरणों में क्रमशः केवल अनुदात्तेत् तथा ङित् धातुओं से ही होता है। अतः यह परस्मैपदियों से सर्वथा नहीं होता है- यह बात नियम के रूप में कैसे सिद्ध हो सकेगी? अब अनुदात्तेत् और ङित् का आत्मनेपदविषयक नियम होने के कारण परस्मैपदी धातुओं से अनिष्ट 'शानच्' नहीं हो सकता है। इसी प्रकार 'नेर्विशः'^{३७} इत्यादि जो आत्मनेपदविधायक सूत्र हैं, वे भी यदि नियमार्थ माने जाएंगे तो फिर वे विधिसूत्र नहीं बन सकेंगे। अतः तब 'निविशते' में आत्मनेपद का विधान कौन करेगा? और इसके विपरीत यदि उनको विध्यर्थ माना जाएगा तो फिर इस 'शानच्' का नियम नहीं प्राप्त होता क्योंकि यह 'शानच्' प्रत्यय स्वयं आत्मनेपदसंज्ञक है। अतः वह आत्मनेपदी धातुओं से ही होना इष्ट है जबकि यहाँ सूत्रारम्भवादी के पक्ष में वह परस्मैपदियों से भी प्राप्त होगा।^{३८} 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' सूत्र का नियमार्थ रूप में प्रतिपादन-

सूत्रप्रत्याख्यानवादी द्वारा पुनः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इस सूत्र का नियमार्थ रूप में प्रतिपादन किया जाता है। 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इस पूर्वोक्त सूत्र को पुनः नियमार्थ मान लिया जाता है। इस पर पूछते हैं कि किन्तु ऐसा नियमार्थ मानने में अभी पहले जो यह कहा गया था कि यह सूत्र विधिसूत्र नहीं बनेगा- इस दोष का क्या समाधान है? यह सूत्र विधिसूत्र भी बन जाएगा। पूछते हैं कि कैसे बन जाएगा तो इसका उत्तर देते हैं कि 'भावकर्मणोः'^{३९} इस सूत्र में ऊपर से 'अनुदात्तङित०'^{४०} ग्रहण की अनुवृत्ति करेंगे।^{४१} ऐसी स्थिति में 'अनुदात्तङित

३६ नैष दोषः। 'अनुदात्तङित' इत्येष योगो नियमार्थो भविष्यति। वही

३७ अष्टा. १.३.१७

३८ यद्येष योगो नियमार्थो, विधिर्न प्रकल्पते - आस्ते, शेते इति। अथ विध्यर्थः, आनस्य नियमो न प्राप्नोति- आसीनः, शयानः (इति)। तथा 'नेर्विशः'

इत्येवमाद्यनुक्रमणं यदि नियमार्थं विधिर्न प्रकल्पते। अथ विध्यर्थमानस्य नियमो न प्राप्नोति। महा.भा.३.४.६९

३९ अष्टा. १.३.१३

४० अष्टा. १.३.१२

आत्मनेपदम्' इस एक प्रथम वाक्य से तो अनुदात्तेत् तथा डित् धातुओं से कर्त्ता में 'शानच्' होने का नियम होगा तथा 'भावकर्मणोः' इस दूसरे सूत्र में अनुवृत्त 'अनुदात्तडित् आत्मनेपदम्' रूप इस दूसरे वाक्य से कर्त्ता में आत्मनेपद का विधान हो जाएगा अन्यथा यहाँ 'अनुदात्तडित्' इस पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति न मानने पर फिर 'आस्' आदि धातुओं से तो कर्त्ता अर्थ में तथा अन्य धातुओं से भाव - कर्म अर्थों में अभीष्ट आत्मनेपद नहीं हो सकेगा। इस पर पूछते हैं कि यदि यहाँ 'अनुदात्तडित्' इस उक्त ग्रहण की अनुवृत्ति करेंगे तो फिर अनुदात्तेत् और डित् धातुओं से ही भाव और कर्म अर्थों में आत्मनेपद प्राप्त होगा।^{४१} इससे फिर अनुदात्तेत् तथा डित् धातुओं से कर्त्ता में तो अभीष्ट आत्मनेपद नहीं प्राप्त होगा। इष्ट है कि इनसे भी कर्त्ता अर्थ में आत्मनेपद हो।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि 'भावकर्मणोः' इस सूत्र में ऊपर से 'अनुदात्तडित्' इस पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति लायी जाती है तो फिर इन दोनों सूत्रों में एकवाक्यता हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप फिर 'आस्यते गुरुणा' तथा 'अतिशय्यते गुरुः' इत्यादि में तो आत्मनेपद हो जाएगा जबकि 'भूयते', 'गम्यते', 'शेते' तथा 'आस्ते' इत्यादि में यह अभीष्ट आत्मनेपद नहीं हो सकेगा।

योगविभाग से अनुदात्तेत् और डित् धातुओं से भाव और कर्म के साथ-साथ कर्त्ता में भी आत्मनेपद को सिद्ध करना-

यहाँ योगविभाग किया जाएगा, तदनुसार प्रथम सूत्र है- 'अनुदात्तडित् आत्मनेपदम्'। इसके बाद अग्रिम सूत्र है- 'भावकर्मणोः' और इसके बाद 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे'^{४२} इस उत्तरसूत्र से 'कर्त्तरि' ग्रहण को अलग करके 'कर्त्तरि' यह इतना एक भिन्न तीसरा सूत्र बनाएंगे। यहाँ 'अनुदात्तडित्' ग्रहण की अनुवृत्ति के साथ इस तीसरे सूत्र का अर्थ होगा कि अनुदात्तेत् और डित् धातुओं से कर्त्ता अर्थ में भी आत्मनेपद हो जाता है जैसे- 'आस्ते' तथा 'शेते'। 'भावकर्मणोः' सूत्र की इस तीसरे उक्त योगविभक्त सूत्र में निवृत्ति हो जाएगी क्योंकि उक्त योगविभाग के सामर्थ्य से 'कर्त्तरि' इस तीसरे योगविभक्त सूत्र में केवल 'अनुदात्त डित्' ग्रहण ही सम्बन्ध रखता है, 'भावकर्मणोः' ग्रहण नहीं। इसके बाद अग्रिम सूत्र केवल 'कर्मव्यतिहारे' इतना होगा। इसमें ऊपर से केवल 'कर्त्तरि' ग्रहण की अनुवृत्ति आएगी और 'अनुदात्तडित्' ग्रहण निवृत्त हो जाएगा।^{४३} इस प्रकार यहाँ 'कर्त्तरि' यह तीसरा योगविभक्त सूत्र होगा जिसमें 'भावकर्म' ग्रहण की तो निवृत्ति हो जाएगी और स्वयं 'कर्त्तरि' यह ग्रहण उसमें है ही। साथ ही यहाँ 'अनुदात्तडित्' ग्रहण की अनुवृत्ति भी इसमें ऊपर से हो जाएगी। इस प्रकार 'अनुदात्तडित्' सूत्र के नियमार्थ होने से आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय अनुदात्तेत् और डित् धातुओं से ही होंगे, अन्यो से नहीं तो फिर यह 'शानच्' प्रत्यय

४१ अस्तु तर्हि नियमार्थम् । ननु चोक्तं- 'विधिर्न प्रकल्पत' इति । विधिश्च प्रकृतः । कथम्? 'भावकर्मणो' रित्यत्रानुदात्तडित् इत्येतदनुवर्तिष्यते ।

महा.भा.३.४.६९

४२ यद्यनुवर्तत एवमप्यनुदात्तडित् एव भावकर्मणोरात्मनेपदं प्राप्नोति । वही

४३ अष्टा. १.३.१४

४४ एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते । अनुदात्तडित् आत्मनेपदं भवति । ततो 'भावकर्मणोः' । ततः 'कर्त्तरि' । कर्त्तरि चात्मनेपदं भवति । 'अनुदात्तडित्'

इत्येव । 'भावकर्मणो'रिति निवृत्तम् । ततः 'कर्मव्यतिहारे' । 'कर्त्तरि'त्येवानुवर्तते, 'अनुदात्तडित्' इत्यपि निवृत्तम् । महा.भा. ३.४.६९

भी आत्मनेपदसंज्ञक है। अतः यह भी फिर अनुदात्तेत् तथा डित् धातुओं से ही कर्त्ता अर्थ में होगा, परस्मैपदी धातुओं से नहीं जैसा कि अभीष्ट है यथा- 'आसीनः' तथा 'शयानः'।

यहाँ 'आस्' और 'शीङ्' धातु क्रमशः अनुदात्तेत् और डित् हैं। 'कर्त्तरि' इस योगविभक्त सूत्र द्वारा उनसे परे कर्त्ता अर्थ में 'शानच्' प्रत्यय हो जाता है तो 'आसीनः' और 'शयानः' ये इष्ट रूप बन जाते हैं।

'नेर्विशः' इत्यादि सूत्रों की नियमार्थता तथा विध्यर्थता की आपत्तियों का समाधान-

सूत्रारम्भवादी के द्वारा 'नेर्विशः' इत्यादि सूत्रों की नियमार्थता तथा विध्यर्थता को लेकर की गई पूर्वोक्त आपत्तियों का समाधान किया जाता है कि पहले जो यह कहा गया था कि 'नेर्विशः' इत्यादि सूत्रों से जो आत्मनेपद का विधान है, वह यदि नियमार्थ माना जाता है तो फिर वह विधि नहीं बनता है अर्थात् 'निविशते' यहाँ आत्मनेपद का विधान नहीं प्राप्त होता है इसके विपरीत यदि इस 'नेर्विशः' सूत्र को विधिसूत्र माना जाता है तो इस 'शानच्' में इसके आत्मनेपदी धातुओं से ही होने का नियम नहीं प्राप्त होता है। अतः वह परस्मैपदी धातुओं से भी प्राप्त होने लगेगा जोकि अनिष्ट है- तो इसके समाधान के लिए कहते हैं कि अच्छा तो इस 'नेर्विशः' सूत्र को विध्यर्थ मान लीजिए। इस पर आपत्ति करते हैं कि किन्तु इसे विध्यर्थ मानने पर फिर अभी पहले जो यह दोष कहा गया था कि इस 'शानच्' प्रत्यय का आत्मनेपदी धातुओं से ही होने का पूर्वोक्त नियम नहीं प्राप्त होता - इसका क्या समाधान होगा तो इसका उत्तर देते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जैसे यहाँ 'नि' उपसर्ग से रहित केवल 'विश्' धातु से 'अनुदात्तडित्' सूत्र की नियमार्थता के कारण 'तड्' या आत्मनेपद नहीं प्राप्त होते हैं वैसे ही इस 'विश्' धातु से उस नियमार्थता के कारण ही यह 'शानच्' प्रत्यय भी वहाँ अप्राप्त ही रहेगा अतः इस 'नेर्विशः' सूत्र को फिर नियमार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है।^{४५} अर्थात् जैसे इस 'शानच्' प्रत्यय में आत्मनेपदसंज्ञक 'तड्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होते हैं अतः जैसे वे अप्राप्त होने पर भी वहाँ हो जाएंगे वैसे ही फिर यह 'शानच्' प्रत्यय भी वहाँ हो जाएगा अतः 'निविशते' यहाँ जैसे 'नि' पूर्वक 'विश्' धातु से कर्त्ता में 'तड्' या आत्मनेपद हो जाता है वैसे ही फिर 'निविशमानः' यहाँ 'शानच्' प्रत्यय भी कर्त्ता में हो जाएगा।

परस्मैपदी धातुओं से 'शानच्' की अनिष्ट प्राप्तिरूप आशङ्का का समाधान-

भाष्यकार द्वारा सूत्रारम्भवादी के द्वारा उत्थापित सभी धातुओं से अर्थात् परस्मैपदी धातुओं से भी 'शानच्' की अनिष्ट प्राप्तिरूप पूर्वोक्त आशङ्का का उत्तर दिया जाता है। किन्तु सूत्रप्रत्याख्यानवादी के इस पूर्वोक्त पक्ष में 'कर्त्तरि कृत्' इस सूत्र के न रहने पर सभी कारकों में यह 'शानच्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होता है जोकि इष्ट है क्योंकि 'विप्रतिषेधाद्धानः कर्त्तरि' इस पूर्वोक्त वार्तिकवचन से भाव और कर्म अर्थों को बाध कर फिर लक्ष्यानुरोधात् कर्त्ता में ही यह 'शानच्' होगा। ऐसी स्थिति में फिर उससे 'निविशमानः' यह कर्त्तरि 'शानच्' प्रत्ययान्त प्रयोग तो बन जाएगा किन्तु 'निविश्यमानः', 'भूयमानः' तथा 'गम्यमानः' इत्यादि भावकर्मार्थक 'शानच्' प्रत्ययान्त प्रयोग सिद्ध न हो सकेंगे। किन्तु जब यहाँ 'ल' ग्रहण कर देते हैं अर्थात् जब यहाँ 'लःकर्मणि च भावे ०' यह सूत्र बना देते हैं

४५ यदयुच्यते- तथा नेर्विश इत्येवमाद्यनुक्रमणं यदि नियमार्थं, विधिनं प्रकल्पते। अथ विध्यर्थमानस्य नियमो न प्राप्नोतीति, अस्तु विध्यर्थम्। ननु

चोक्तमानस्य नियमो न प्राप्नोतीति। नैष दोषः। यथैवात्राप्राप्तास्तडो भवन्त्येवमानोऽपि भविष्यति। महा.भा.३.४.६९

तो तब 'शानच्' प्रत्यय के प्रसङ्ग में 'कर्त्तरि कृत्' इस सूत्र से तो यह 'शानच्' प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में प्राप्त होता है और 'लः कर्मणि च भावे०' इस सूत्र से कर्त्ता तथा कर्म इन दोनों अर्थों में प्राप्त होता है क्योंकि यह सूत्र 'तिबादि' लादेशों के कर्त्ता और कर्म इन दोनों अर्थों का विधान करता है। ऐसी स्थिति में 'कर्त्तरि कृत्' और 'लः कर्मणि च भावे०' इन दोनों सूत्रों की प्रतिस्पर्धा में विप्रतिषेधमूलक परत्व के कारण यही प्रकृत सूत्र 'लः कर्मणि च भावे०' प्रवृत्त हो जाएगा। उससे यह 'शानच्' प्रत्यय फिर आत्मनेपदी धातुओं से कर्त्ता के साथ - साथ कर्म में भी सिद्ध हो जाएगा। अतः 'निविश्यमानः' और 'निविशमानः' ये दोनों क्रमशः कर्म तथा कर्त्ता के इष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं।^{४६}

परस्मैपदसंज्ञक 'शतृ' तथा 'कसु' प्रत्ययों की भाव और कर्म अर्थों में भी अनिष्ट प्राप्ति का समाधान^{४७} -

भाष्यकार द्वारा पूर्वोक्त विप्रतिषेध से परस्मैपदसंज्ञक 'शतृ' तथा 'कसु' प्रत्ययों की भाव और कर्म अर्थों में भी अनिष्ट प्राप्ति को लेकर पहले तो दोष प्रदर्शन तत्पश्चात् समाधान किया जाता है। 'सर्वप्रसङ्गस्तु' अर्थात् लकार के स्थान में होने वाले ये 'तिबादि' आदेश सभी कारकों में प्राप्त होते हैं जैसे 'शतृ' और 'कसु' ये दोनों प्रत्यय लादेश हैं क्योंकि यह 'शतृ' प्रत्यय तो 'लटः शतृशानचौ०'^{४८} इस सूत्र से लट् के स्थान में होता है और 'कसु' प्रत्यय 'कसुश्च'^{४९} सूत्र से लिट् के स्थान में होता है। इस तरह ये दोनों प्रत्यय लादेश होने से इस प्रकृत सूत्र के वचन से कर्त्ता के साथ - साथ भाव और कर्म अर्थों में भी प्राप्त होते हैं^{५०} तो इसका उत्तर देते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मनेपद का विधान करने वाले 'भावकर्मणोः' इत्यादि सूत्र तो पहले जा चुके हैं। अब उनसे जो शेष बच गए हैं उन ऐसे धातुओं से 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' इस सूत्र द्वारा कर्त्ता अर्थ में परस्मैपद हो जाएगा तो 'शतृ' और दोनों परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय शेष होने से फिर कर्त्ता अर्थ में ही होंगे, भाव और कर्म अर्थों में नहीं^{५१} अर्थात् 'शेषात्कर्त्तरि०' इस सूत्र द्वारा 'शतृ' और 'कसु' इन दोनों परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों को भाव और कर्म अर्थों से खींचकर कर्त्ता अर्थ में ले जाया जाता है क्योंकि उक्त सूत्र के नियमानुसार अनुदात्तेत् तथा डित् रूप आत्मनेपद के

४६ 'सर्वत्राऽप्रसङ्गस्तु' । सर्वेषु च साधनेष्वानो न प्राप्नोति । 'विप्रतिषेधाद्वाऽऽनः कर्त्तरि'ति भावकर्मणोर्न स्यात्, कर्त्तर्येव स्यात् । इह पुनर्लग्रहणे क्रियमाणे

'कर्त्तरि कृ'दित्येतदस्तु, 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्य' इति - लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्य' इत्येतद्भविष्यति विप्रतिषेधेन । महा.भा.३.४.६९

४७ पूर्वोक्त समाधान केवल 'शानच्' विषयक ही है क्योंकि इस 'शानच्' प्रत्यय के ही अतिङ्गावी होने से कृत्संज्ञक होने के कारण फिर यहाँ 'कर्त्तरि कृत्' यह सूत्र प्रवृत्त हो सकता है । किन्तु पूर्वोक्त दोनों सूत्रों के विप्रतिषेध से कुछ अन्य अतिङ्गावी कृत् प्रत्यय जैसे- 'शतृ' और 'कसु' ये भी भाव और कर्म अर्थों में विधान किए गए हैं । यद्यपि इनमें 'शतृ' प्रत्यय तो परस्मैपदसंज्ञक है जबकि 'भावकर्मणोः' सूत्र से भाव - कर्म अर्थों में आत्मनेपद का विधान किया गया है किन्तु यह उक्त सूत्र किसी अन्य से प्राप्त परस्मैपद का निषेध नहीं करता है । ऐसी स्थिति में फिर इस पूर्वोक्त विप्रतिषेध से भाव तथा कर्म में भी परस्मैपदसंज्ञक लादेश 'शतृ' तथा 'कसु' प्रत्ययों की अनिष्ट प्राप्ति हो सकती है ।

४८ अष्टा. ३.२.१२४

४९ अष्टा. ३.२.१०७

५० 'सर्वप्रसङ्गस्तु' । लादेशः सर्वेषु साधनेषु प्राप्नोति । शतृकसू च भावकर्मणोरपि प्राप्तुतः । महा.भा.३.४.६९

५१ नैष दोषः । 'शेषात्परस्मैपदं कर्त्तरित्येवं तौ कर्त्तरि हियेते' । वही

निमित्त से रहित शेष धातुओं से कर्त्ता में ही परस्मैपद होता है इसलिए फिर परस्मैपदसंज्ञक 'शत्' और 'कसु' प्रत्ययान्त प्रयोग सदा कर्त्तृवाच्य ही होते हैं, कर्मवाच्य या भाववाच्य नहीं।

कैय्यट के अनुसार प्रकृतसूत्रस्थ 'ल' ग्रहण को 'लस्य य आदेशः' इस प्रकार षष्ठी का निर्देश मानने वाले पक्ष में 'आमः'^{५२} सूत्र से विधीयमान लिट् के लुक् के भी भावकर्मादि पूर्वोक्त अर्थ होते हैं क्योंकि किसी के अभाव को भी यहाँ शास्त्र में आदेश माना जाता है जैसे कि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'^{५३} में 'पटयति' इत्यादि उदाहरणों में लोप को भी अच् के स्थान में आदेश या अजादेश मानकर उसका स्थानिवद्भाव दिखाया गया है। यदि यह कहा जाए कि अनुप्रयोगों के भाव आदि अर्थों को 'तिबादि' लादेशों के द्वारा ही अभिव्यक्त कर देने पर फिर इनके ये अर्थ मानने की क्या आवश्यकता है तो इसका उत्तर है कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार मानने से फिर आम्बिषयक लादेश का 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र के अनुसार सदा कर्त्ता अर्थ ही रहेगा, भाव तथा कर्म अर्थ कभी नहीं। उस अवस्था में परस्पर विरोध होने के कारण अन्य अर्थों के वाचक प्रत्ययपरक अनुप्रयोग कभी नहीं हो सकेंगे। यहाँ यह कहना कि लुक् के अभावरूप होने से फिर इससे अर्थ का कथन कैसे हो सकता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'क्विप्' आदि के समान इस प्रकृत लिट् प्रत्यय का भी लुक् हो जाने से प्रयोग में इसका श्रवण न होने पर भी जो इस लुक् की अर्थवत्ता कही जा रही है, वह वस्तुतः न होकर भी व्याख्याकारों के द्वारा कथित है। आमन्त धातुओं के अनुप्रयोग से तो उन भाव- कर्म आदि अर्थों की केवल अभिव्यक्ति होती है- ऐसा मानने से फिर यह कोई दोष नहीं रहता है।^{५४}

सिद्धान्तप्रकाशकार शिवरामेन्द्रसरस्वती द्वारा प्रदीपकार कैय्यट का प्रत्याख्यान-

सिद्धान्तप्रकाशकार के अनुसार प्रदीपकार ने कहा है कि 'ल में षष्ठी एकवचन मानना चाहिए' तो ऐसा ठीक नहीं है। क्योंकि वह कथन इस वार्तिक "लग्रहणं सकर्मकनिवृत्त्यर्थम्" के अनुकूल नहीं है अर्थात् सकर्मक धातुओं से 'लकार' कर्म में हों (न कि तिबादि लादेश) तथा अकर्मक धातुओं से कर्म में न हो जाएं जिस प्रकार भाव में विधीयमान 'घञ्' आदि प्रत्यय सकर्मक धातुओं से होते हैं, जैसे- 'ओदनस्य पाकः' तथा 'सूत्रस्य कृतिः'। यद्यपि प्रदीपकार ने 'लः' में षष्ठी एकवचन मानने की बात 'केचित्' कहकर रखी है तथापि शिवरामेन्द्रसरस्वती ने इसे उन्हीं का मत मानकर इसका खण्डन कर दिया है। शिवरामेन्द्रसरस्वती ने "लग्रहणं सकर्मकनिवृत्त्यर्थम्" इति वार्तिकाननुगुणत्वात्" यह कथन सम्भवतः यह समझकर किया है कि सकर्मक अकर्मक व्यवस्था का विधान चूँकि लकारों में सुनिश्चित किया गया है लकार के स्थान पर होने वाले आदेशों में नहीं। यदि ऐसा न माना जाए तो 'आम्' आदि प्रत्यय जो लकारों के स्थान पर होने से 'लादेश' हैं तथा जिनका लुक् भी हो जाता है उस लुगादेश

५२ अष्टा. २.४.८१

५३ अष्टा. १.१.५७

५४ ल इत्यादेशोपेक्षषष्ठीनिर्देशपक्षे आम इति विधीयमानस्य लुकोप्ययमर्थनिर्देशः। अभावस्याप्यादेशत्वात्। तथा च अचः परस्मिन्नित्यत्र लोपस्याप्यजादेशस्य स्थानिवद्भावः प्रदर्शितः। लुकोऽभावरूपत्वात्कथमर्थाभिधानमिति चेत्। प्रतिज्ञाप्रापितं क्रिवादीनामिव प्रयोगेऽश्रवणेपि लुकोर्थवत्त्वमनुप्रयोगात् तदर्थाभिधानव्यक्तिरित्यदोषः। प्र.३.४.६९

को जो कि अभावरूप है उसे किस अर्थ में रखा जाएगा? किसी में नहीं अर्थात् उनकी सकर्मक अकर्मक व्यवस्था नहीं बन सकती है क्योंकि अभावरूप आदेश का अर्थनिर्धारण उपयुक्त नहीं है क्योंकि अभावरूप आदेश किसी भी अर्थ की अभिव्यक्ति करने में समर्थ नहीं होता है। और यदि यह कहा जाए कि 'आम्' का लुक् होने पर भी जो अनुप्रयुक्त लादेश होंगे उन्हीं के द्वारा यह भावकर्मादि की अभिव्यक्ति हो जाएगी तो ऐसा नहीं है क्योंकि आम् विषयक लकार 'कर्त्तरि कृत्' से कृत् संज्ञक होने से 'कर्त्ता' में होता है इससे उसके विरुद्ध भावकर्मवाचीप्रत्ययपरक अनुप्रयोग प्राप्त ही नहीं होता है।^{५५} अतः यहाँ 'लः' में प्रथमा एकवचन ही मानना उपयुक्त है न कि षष्ठी एकवचन। एक रोचक बात यह भी है कि जहाँ नागेश, अन्नम्भट्ट तथा नारायणादि 'लः' में जात्यर्थ में प्रथमा विभक्ति एकवचन मानते हैं वहीं दूसरी ओर काशिकाकार वामन, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि तथा पदमञ्जरीकार हरदत्त यहाँ प्रथमा बहुवचन मानते हैं।

निष्कर्षतः-

प्रकृत सूत्र के प्रत्याख्यान प्रसंग में जो कहा है वह संक्षेप में इस प्रकार हैं कि 'भावकर्मणोः' सूत्र के ज्ञापक से यह ज्ञापित होता है कि अकर्मक धातु से भाव में लकार या लकार के स्थान में होने वाले आत्मनेपदसंज्ञक 'तिबादि' लादेश होते हैं। इसी के साथ इस सूत्र से यह भी ज्ञापित होता है कि अकर्मक धातु से कर्म में लकार या लकारों के स्थान में होने वाले आत्मनेपदसंज्ञक 'तिबादि' लादेश होते हैं। इसी प्रकार 'अनुदात्तङित०' इस सूत्र से यह ज्ञापित होता है कि अनुदात्तेत् तथा ङित् धातुओं से कर्त्ता में आत्मनेपदसंज्ञक 'शानच्' आदि प्रत्यय होते हैं। इस प्रसङ्ग में सूत्रप्रत्याख्यानवादी ने तृतीय ज्ञापक को विप्रतिषेध के द्वारा सिद्ध किया है। उसका कथन है कि 'शानच्' के कृत् होने से 'भावकर्मणोः' सूत्र के ज्ञापक और 'कर्त्तरि कृत्' सूत्र के साथ एकवाक्यता से प्राप्त अर्थ- इन दोनों के प्राप्त होने पर दोनों में यह 'शानच्' प्रत्यय विप्रतिषेध से परत्वात् 'कर्त्तरि कृत्' सूत्रप्रोक्त कर्त्ता अर्थ में सिद्ध हो जाता है।

इस एकवाक्यता से 'शानच्' को कर्त्ता में सिद्ध करने पर कुछ दोष होते हैं यथा- परस्मैपदी धातुओं से भी कर्त्ता अर्थ में 'शानच्' की अनिष्ट प्राप्ति होती है जिसे 'अनुदात्तङित०' सूत्रप्रोक्त इस नियम से प्रतिषिद्ध करना होगा कि अनुदात्तेत् और ङित् धातुओं से ही आत्मनेपद होता है। इसी तरह एकवाक्यता मानने पर धातुओं से भाव एवं कर्म अर्थों में यह 'शानच्' प्रत्यय नहीं सिद्ध होता है जिसके लिए अनेक ज्ञापकों की अपेक्षा 'लः कर्मणि च०' यह प्रकृत सूत्र रखना आवश्यक हो जाता है। किन्तु पूर्वोक्त इस प्रकृत सूत्र को रखने में भी एक अन्तिम दोष है कि इस सूत्र के अनुसार सकर्मक धातुओं से परस्मैपदसंज्ञक 'शत्' और 'कसु' प्रत्यय भाव तथा कर्म अर्थों में भी प्राप्त होते हैं क्योंकि 'भावकर्मणोः' यह सूत्र धातुमात्र से भाव और कर्म अर्थों में आत्मनेपद का विधान तो करता है किन्तु यदि किसी अन्य सूत्र के द्वारा इन भाव और कर्म अर्थों में परस्मैपद प्राप्त होता है तो यह सूत्र उसका प्रतिषेध नहीं करता है जिसका समाधान 'शेषात् कर्त्तरि०' सूत्रप्रोक्त अनुदात्तेत् तथा ङित् रूप आत्मनेपद के निमित्त से रहित शेष धातुओं से कर्त्ता में ही परस्मैपद होता है- इस नियम द्वारा किया गया है।

^{५५} यद्यपि प्रदीपकार कैयट इस मत से सहमत नहीं दिखाई देते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

१. पतञ्जलि, महाभाष्य प्रदीप उद्योत सहित, सम्पा. गुरुप्रसाद शास्त्री, द्वितीय संस्करण, दिल्ली: प्रतिभा प्रकाशन, १९९९.
२. पतञ्जलि, महाभाष्य प्रदीप उद्योत सहित, सम्पा. श्री भार्गव शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८७.
३. पतञ्जलि, महाभाष्य प्रदीप उद्योत सहित, सम्पा. श्री वेदव्रत, प्रथम संस्करण, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, झज्जर, २०००.
४. पतञ्जलि, महाभाष्य प्रदीप उद्योत सहित, सम्पा. व्या. डॉ. हरिनारायण तिवारी, प्रथम संस्करण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००९.
५. पतञ्जलि, महाभाष्य प्रदीप उद्योत सहित, व्या. भीमसिंह वेदालङ्कार, प्रथम संस्करण, विद्यानिधि शोध संस्थान कुरुक्षेत्र, कुरुक्षेत्र, २००६.
६. पतञ्जलि, व्याकरणमहाभाष्यम् (विमलाटीका सहित), व्या. महेश झा शर्मा, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, २०११.
७. नागेशभट्ट, वैयाकरणसिद्धान्त परमलघुमञ्जूषा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, १९८९.
८. जयादित्यवामन, काशिका पदमञ्जरी न्यास सहित, सप्तम भाग, सम्पा. जयशंकर लाल त्रिपाठी, प्रथम संस्करण, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, १९९०.
९. जयादित्यवामन, काशिका, सम्पा. विजयपाल विद्यावारिधि, प्रथम संस्करण, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, १९९७.
१०. सम्पा. नरसिंहाचार्य, एम. एस. महाभाष्य प्रदीप व्याख्यानानि, भाग-९, PONDICHERY: INSTITUT FRANCAIS D'INDOLOGIE, १९८२.
११. सुदर्शनदेव, व्याकरणकारिकाप्रकाश, गुरुकुल झज्जर, १९६४.
१२. हरदत्तमिश्र, पदमञ्जरी, दामोदरशास्त्री, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६५.
१३. दीक्षित, वासुदेव भट्ट (व्या.), वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा व्याख्या सहित), काशी, १९७१.
१४. पेरी, सूर्यनारायण शास्त्री, नागेशभावप्रकाशः (नागेशकृतलघुमञ्जूषायां धात्वर्थनिपातार्थयोः व्याख्या), विजया प्रेस, चित्तूर, १९८७.
१५. पेरी, सूर्यनारायण शास्त्री, धात्वर्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोध, विजया प्रेस, चित्तूर, १९८३.

वेदों में आयुर्वेद

डॉ० कँवर सिंह

सह आचार्य, संस्कृत विभाग, श्री वेंकटेश्वर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० ब्रह्मप्रकाश

सह आचार्य, संस्कृत विभाग, हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रोगों को दूर कर जीवन को नीरोग और दीर्घ बनाना आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्य है, जिसका उत्स वेद है। गोपथब्राह्मण में भेषज को अथर्व कहा गया है—येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्^१ जो अथर्वा है, वह भेषज है। निरुक्त में भेषज का एक पर्याय 'प्रतिषेध' है। 'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः'^२ थर्वति का अर्थ है गति। औषध बढ़ते हुए रोग को रोकती है, इसलिए उसे 'अथर्वा' कहते हैं। अथर्ववेद के नामकरण का भी यही कारण है। यही अथर्वा मुख्य रूप से अथर्ववेद में प्रतिपादित है, भेषज से अमृतत्व की प्राप्ति होती है और वही ब्रह्मपद (निर्वाण) है। यहां हम अथर्ववेद तथा अन्य वेदों में उपलब्ध आयुर्वेद का अध्ययन करेंगे।

वस्तुतः आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। अथर्ववेद दान, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित आदि के द्वारा 'देवव्यपाश्रय-चिकित्सा' का विधान तथा रोगनाशक वनस्पतियों के विधियों, प्रयोगों द्वारा 'युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा' का उपदेश करता है। अध्येता या वेदांग के अध्येता जब वेदना से क्लान्त होते हैं, तब आयुर्वेद की ही शरण में जाते हैं। आयुर्वेद, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल है, क्योंकि स्वस्थ पुरुष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है और स्वास्थ्य प्रदान करने में आयुर्वेद ही समर्थ है। जिस प्रकार दक्षिण हाथ में पांच अंगुलियों में अगूठा उनका अधिपति और प्रधान होता है, उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद से भिन्न 'आयुर्वेद' पंचम वेद है- आयुर्वेदमेवाश्रयन्ते वेदाः। तद्यथा-दक्षिणे पाणौ चतसृणामगुडलीनाङ्गुष्ठ आधिपत्यं कुरुते, न च नाम ताभिः सह समतां गच्छति, एकस्मिश्च पाणौ भवति, एवमेवायम् ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेद इति। आयुर्वेद को पंचम वेद मानने अथवा वेदों को आयुर्वेद पर आश्रित मानने की परोक्ष व्यवस्था यही है कि वेदों में आयुर्वेद की प्रचुर सामग्री है।

अथर्ववेद के सैकड़ों सूक्तों के मन्त्र आयुर्वेद से सम्बद्ध हैं। इसमें त्रिदोष-वाद,^३ शरीर में अग्नि की स्थिति, पाचनक्रिया, शरीर के अंग-प्रत्यंग के नाम, रोगों के नाम, कृमियों के विस्तृत वर्णन औषधियों का निर्देश, चिकित्सा के विविध प्रकार देवव्यपाश्रय, युक्ति-व्यपाश्रय आदि, विष-विज्ञान के विषय, शल्य-शालाक्य, भूतविद्या, रसायन, वाजीकरण, द्रव्यगुण के विषय एवं वनस्पतियों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। वेदों में अश्वमेध यज्ञ के

१ गोपथब्राह्मण १.३.४

२ निरुक्त ११.१९

३ त्रिधातुशर्म बहंतं शुभस्पती (ऋ० १.३४.६) और 'इन्द्र त्रिधातुशरणम् (ऋ० ६.४६.९) इन मन्त्रों में त्रिधातु शब्द से त्रिदोष का संकेत मिलता है।

समय 'भेषज-विद्या' सम्बन्धी आख्यान का ज्ञान होना भेषज-विद्या के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। इसी के साथ वैदिक मन्त्रों में तीन सौ साठ अस्थियों का उल्लेख है।^४ मन्त्रों में सैकड़ों हजारों शिराओं और धमनियों के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ऋषियों को इनका ज्ञान था। इसे निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं-

(क) शरीर-रचना विज्ञान- अथर्ववेद के १० वें काण्ड के दूसरे सूक्त में प्रश्नात्मक शैली में मनुष्य के शरीर से लेकर पैरों तक शरीर के मुख्य-मुख्य सब अंगों और प्रत्यंगों का नाम लेकर पूछा गया है कि मनुष्य-शरीर में ये अंग (केन) किसने बनाये हैं ? इसी में उत्तर छिपा है कि 'केन' अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने इसकी रचना की है। इस प्रकार इस सूक्त में शरीर के अंग- प्रत्यंगों को गिनाकर संक्षिप्त रूप में शरीर-रचना विज्ञान का वर्णन किया गया है।

(ख) रक्तप्रवाह- इसी सूक्त के ११वें मन्त्र में शरीर में प्रवाहित होते रहने वाले रक्तप्रवाह-चक्र का भी वर्णन किया गया है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है कि इस शरीर में किसने उन जलों को (अपः) बनाकर रखा है जो शरीर में सब ओर फैलते हैं, जो सब ओर से बहकर सिन्धु अर्थात् हृदय में आते हैं और वहाँ से बाहर जाते हैं, जिनका स्वाद तीखा है, जो चमकते हुए लाल रंग के हैं (अरुणाः), जो लोहे से युक्त हैं और इसीलिए लाल हैं (लोहिनीः) लौ लाल-नीले रंग के हैं (ताम्रधूम्रा) जो पुरुष के शरीर में ऊपर की ओर भी बहते हैं, (ऊर्ध्वाः), नीचे की ओर भी बहते हैं (अवाचीः)^५। मन्त्र में रक्त के लिए 'आपः' शब्द का प्रयोग हुआ है। आपः शब्द का मूल यौगिक अर्थ फैला हुआ होता है। रक्त क्योंकि शरीर में सर्वत्र फैला हुआ होता है इसलिए उसका 'आपः' नाम भी सार्थक है। सिन्धु शब्द का यौगिक अर्थ है जिसकी ओर बहकर बाहर जावे। शरीर का गन्दा नीला रक्त क्योंकि शरीर के सब अंगों से हृदय में जाता है और शुद्ध होकर हृदय से फिर बाहर सब अंगों तक पहुंचता है इसलिए यहां मन्त्र में हृदय के लिए 'सिन्धु' शब्द भी सार्थक है।

(ग) शल्य चिकित्सा- अथर्ववेद में रुके हुए मूत्र को सलाई से निकालने का वर्णन आता है।^६ शल्य चिकित्सा का सम्बन्ध शरीर के बाह्याभ्यन्तर अंगों के पृथक् पृथक् करने के ज्ञान से है। शरीर छेदक क्रिया से ज्ञान कराया जाता है। वेद ने शल्य क्रिया के प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए कहा-शरीर के छेदन-काटने के लिए अनेक प्रकार के छोटे बड़े शस्त्रों की आवश्यकता होती है। अतः कहा भी गया है कि-

‘वज्रेण शतपवर्णा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना । प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥

अर्थात् सैकड़ों प्रकार के फलक वाले कठोर एवं तेज अस्त्रों से कंधों से शिर भाग को अलग करो।^७

४ शतपथ ब्राह्मण

५ को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरुवृतः सिन्धुसुत्याय जाताः । तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः । अथर्व०

१०.२.११

६ प्र ते भिनन्नि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ अथर्व० १.३.७

७ अथर्व० १२.५.६६, अथर्व० १२.५.६७

(घ) वैद्य- ऋग्वेद में वैद्य के लिए 'भिषक्' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसे 'रक्षोहा' और 'अमीवचातन' कहा गया है-

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव । विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः ॥^८

मन्त्र का अर्थ है जैसे सेनापति से शिक्षा को प्राप्त हुए राजा के वीर पुरुष अत्यन्त पुरुषार्थ से देश देशान्तरों में जा, शत्रुओं को जीत के राज्य को प्राप्त होते हैं वैसे ही श्रेष्ठ वैद्य से शिक्षा को प्राप्त हुए तुम लोग औषधविद्या को प्राप्त होओ ।

शुक्लयजुर्वेद में औषधियों का वर्णन मिलता है । उसके अनुसार विलास, अर्श शोथ, क्षीपद, हृदयरोग और कुष्ठ आदि रोगों में इनका प्रयोग करने से ये रोग दूर हो जाते हैं । तैत्तिरीय संहिता^९ में दृष्टि- प्राप्ति एवं यक्ष्मा तथा उन्माद रोग को दूर करने की रचनाएँ हैं । राजयक्ष्मा रोग का वर्णन है एवं त्रिदोषवाद का भी संकेत मिलता है ।

यजुर्वेद में औषध से सम्बद्ध कई मन्त्र हैं । जिनका अभिप्रायः है कि यज्ञ में रस लेने वाले सोमादि औषधि के जिस प्राप्त रस को सूर्य अपने तापादि क्रियाओं से पीता है, मैं इस सोम औषधिराज के उस भाग को शान्त मन से इस यज्ञ में सेवन करता हूँ ।^{१०} औषधियाँ अनेक प्रकार की हैं । कोई फूल वाली हैं और कोई फूल व फल वाली हैं, कोई बिना फल की हैं, परन्तु परमात्मा ने सभी में किसी न किसी प्रकार की शक्ति प्रदान की हुई है । अतः सभी औषधियाँ ग्रहण करने एवं ज्ञात करने योग्य हैं ।^{११}

यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र में लिखा है कि पृथिवी और जल में उत्पन्न औषधि तीन वर्ष बाद, जब वह ठीक-ठीक पक जाएं तभी उनको ग्रहण कर वैद्यकशास्त्र के अनुकूल विधान से सेवन करें । सेवन की हुई वह औषध शरीर के १०७ मर्म स्थानों में व्यापक होकर प्रभावकारी होती है । अर्थात् अपरिपक्व औषधियों का सेवन न करें ।^{१२} औषधियों के वर्णन के प्रसंग में मन्त्रों में उनका एक कार्य यह भी बताया गया है कि वे यातुधानों और राक्षसों को मारती है । यातुधान का अर्थ है जो पीड़ा देवे, राक्षस का अर्थ होता है जो छिपकर प्रहार करे या जिससे रक्षा की जानी चाहिए । वेद के औषधि प्रकरणों में ये शब्द रोगजनक कृमियों के वाचक हैं । मन्त्रों में इन रोगजनक कृमियों का एक विशेषण 'दुर्णामा' भी आता है । इस शब्द का अर्थ होता है जिसे आसानी से नष्ट करके दूर न किया जा सके । रोगजनक कृमियों को नष्ट करके उन्हें दूर करना और रोगी व्यक्ति को नीरोग और स्वस्थ करना पर्याप्त कठिन होता है । इसलिए उन्हें मन्त्रों में दुर्णामा कह दिया गया है । यजुर्वेद के ही एक मन्त्र में पुरुष, गौ, घोड़ा, भेड़ एवं भेड़ी सभी के लिए रोग वा दुःख दूर कर सुख देने के लिए औषध है ।^{१३}

८ ऋग्वेद १०.९७.६

९ तैत्तिरीय संहिता (२.१.१.१, २.४.१४.५)

१० सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिसुत्परिषिच्यते । अश्विभ्यां दुग्धं भेषजामिन्द्रायैन्द्रं सरस्वत्या ॥ यजु० १९.१५

११ याः फलिनीर्याऽअफलाऽअपुष्पा याश्च पुष्पिणीः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचन्त्वं हसः ॥ यजु० १२.८९

१२ या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ यजु० १२.७५

१३ भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखं मेषाय मेष्यै ॥ यजु० ३.५९

औषधियों के सम्बन्ध में अथर्ववेद के औषध सूक्त से महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इसमें औषधियों के स्वरूप, उनका प्रयोग आदि वर्णित है। जैसे कि 'वरण' नामक औषधि से यक्ष्मा तथा नींद न आने के कारण बुरे-बुरे स्वप्न आते रहने की चिकित्सा का वर्णन है।^{१४} 'पुश्रिवर्णी' औषधि से जो रोग शरीर का रक्त पीकर दुर्बलता उत्पन्न कर शरीर के सौन्दर्य को नष्ट कर देते हैं, स्त्रियों में गर्भ नहीं बनने देते या गर्भ असमय में गिर जाने के कारण बनते हैं आदि रोगों का उपचार किया जा सकता है।^{१५} 'रोहिणी' के बारे में कहा कि यह तलवार आदि से कटी हुई हड्डियों को, मांसपेशियों को, त्वचा को, नसनाड़ियों को जोड़ सकती है और व्रण में बहुत रुधिर के बहने को रोक सकती है।^{१६}

अथर्ववेद^{१७} में औषध का वर्णन आता है। वहां शंख को विभिन्न प्रकार के रोगों को मारने वाला कहा है, उसे अमित अर्थात् बुद्धि की मन्दता को दूर करने वाला कहा गया है और आयु को लम्बा करने वाला बताया गया है। चिकित्सक लोग शंख को घिसकर अथवा उसकी भस्म बनाकर औषध के रूप में प्रयोग में लाते हैं। शंख उन रोगों के कीटाणु जो शरीर में विकार उत्पन्न करते हैं उनका भी समूल नाश करता है। शंख को आयु का देने वाला भी कहा गया है। वहां स्पष्ट लिखा है कि उस शंख को वर्च, बल, दीर्घायु तथा दौर्बल्यता निवारण के लिए बांधती हूं। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में दीर्घ एवं पूर्ण आयु के लिए कुछ वनस्पति मणियों^{१८} का वर्णन आया है। जैसे (क) वरणमणि^{१९}- सब प्रकार के रोगों के लिए औषध रूप बतलाई गई है। (ख) फालमणि^{२०} तथा (ग) दर्भमणि^{२१} - दीर्घायुत्व तथा तेज के लिए है। (घ) औदुम्बरमणि^{२२} - इसको वाजीकारक तथा पुष्टि-कारक बताया गया है। (ङ) जंगिडमणि^{२३}-यह रोगों का निवारण करने वाली है (च) शतावार^{२४}-यक्ष्मानाशक है। (छ) अस्तुतमणि^{२५}- यह आयु, बल, ओज वर्द्धक है। इन मणियों के धारण से इनकी रोग-नाशक एवं बलवर्धक शक्ति एवं आयु बढ़ाने की शक्ति

१४ अथर्व. १०.३

१५ न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्रुते। यं भेषजस्य गुल्युलोः सुरभिर्गन्धो अश्रुते।। अथर्व० १९.३८.१

१६ अथर्व. ४.१२

१७ अथर्व. ४.१०

१८ मणि अथवा रत्न शब्द किसी भी अत्यन्त उपयोगी अथवा मूल्यवान वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है— 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टतद्रत्नमभिधीयते।'

१९ अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः। अथर्व० १०.३.३

२० तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये। अथर्व० १०.६.२९

२१ इमं बभ्रामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे। अथर्व० १९.२८.१

२२ (क) औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय -अथर्व० १९.३१.१ (ख) औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्टया। अथर्व० १९.३१.२

(ग) औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे। अथर्व० १९.३१.३

२३ अमीवाः सर्वाश्चातयञ्जहि रक्षांस्योबधे। अथर्व० १९.३४.९

२४ शतवारो अनीशद् यक्ष्मान्। अथर्व० १९.३६.१

२५ तत्ते बभ्राम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय। अथर्व० १९.४६.१

शरीर में क्रियाशील हो जाती है। वर्तमान चिकित्सा क्षेत्र के लिए नवीन अनुसन्धान का मार्ग इससे प्राप्त होता है। यह स्पर्श जन्य चिकित्सा के अन्तर्गत आता है।

अथर्ववेद में रुधिर स्राव को रोकने के लिए धमनी बन्धन^{२६}, हृदयरोग, पाण्डुकामला^{२७}, श्वेतकृष्टनाशन^{२८}, कुष्ठ और तक्म^{२९} ज्वर^{३०} तथा यक्ष्मा^{३१} आदि रोगों के उपाय निर्दिष्ट किये हैं। इनकी औषधियों का उल्लेख है। एक अन्य स्थल पर क्षेत्रीय रोग निवारण का वर्णन है।^{३२} कृमिनाशन^{३३}, वाजीकरणादि^{३४}, अनिद्रा^{३५} विष दूर करने^{३६}, सर्प विष का उपचार^{३७}, वृष रोगनाशन^{३८}, बलास- नाशन^{३९}, गर्भ दहण^{४०}, इषु निष्कासन^{४१}, उन्मत्तता मोचन^{४२}, दाताह^{४३} आदि रोगों की औषधियों का वर्णन है। दीर्घ एवं पूर्ण आयु के लिए अथर्ववेद^{४४} में कुछ वनस्पति मणियों का वर्णन आया है।^{४५}

कुछ अन्य औषधियों का वर्णन भी प्राप्त होता है- (क) अपामार्ग औषध से भूख तथा अत्यधिक प्यास दूर होती है। साथ ही यह औषध इन्द्रियों और अन्य अंगों की दुर्बलता को दूर करने के लिए भी प्रयुक्त होती है।^{४६} (ख) लाक्ष औषध लाठी आदि की चोट से हुए घाव के भरने में प्रयुक्त होती है। जो लाक्षा (लाख) प्लक्ष

२६ अथर्व. १.१७

२७ वही, १.२२

२८ वही, १.२२, २३

२९ वही, ५.४

३० वही, १.२५, ७.११६

३१ वही, २.३३, ३७, ७.२०

३२ वही, २.८

३३ अथर्व. २.३१, ३२, ४.३७, ५.२३

३४ वही, ४.४

३५ अथर्व. ४.५

३६ वही, ४.६, ७

३७ वही, ५.१३, ७.८८

३८ वही, ५.१६

३९ वही, ६.१४

४० वही, ६.१७

४१ वही, ६.१०५

४२ वही, ६.१११, १३८

४३ वही, ६.१४०

४४ अथर्व. ८.५

४५ मणि अथवा रत्न शब्द किसी भी अत्यन्त उपयोगी अथवा मूल्यवान के लिए प्रयुक्त होता है।-- जातौ जातौ यदुत्कृष्टतद्रत्नमभिधीयते ।

४६ अथर्व. १९.२७

(पिलखन), अश्वत्थ (पीपल), खदिर (खैर), घव (बबूल) न्यग्रोध (बड़) तथा पर्ण (ढाक) नामक वृक्षों के संसर्ग से बनती है वह उत्कृष्ट होती है^{४७} (ग) दर्भ नामक औषध से व्यक्ति का क्रोध कम हो जाता है^{४८} तथा रोगों को दूर करने की शक्ति है। (घ) इससे गौओं का दूध भी बढ़ता है।^{४९} (ङ) कुष्ठ औषध प्राण और व्यान के कष्टों व नेत्र रोगों को शान्त करती है, साथ ही यह शरीर के अन्य रोगों को भी दूर कर सकती हैं।^{५०} आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस औषध को कुष्ठ नामक रोग की चिकित्सा में भी उपयोगी बताया गया है। (च) पिप्पली नामक औषध वातरोग, क्षिप्त रोग और पीड़ा से अंगों का पटकना, पागलपन एवं अतिबिद्ध (अंगों की अधिक पीड़ा) आदि रोगों की चिकित्सा में लाभदायक होती है।^{५१} (छ) नितल्ली नामक औषधि सिर के बालों का झड़ना रोकने, बाल न उगते हों तो उगाने, बाल बीच में टूट जाते हों तो उन्हें टूटने से रोकने तथा बालों का श्वेत को काला करने के काम में प्रयुक्त की जा सकती है। बालों को लम्बा और मजबूत करना इसका विशेष गुण है।^{५२} (ज) उदुम्बर (गूलर) खाने से गाएं तथा बछड़े बछड़ियां हृष्ट-पुष्ट उत्पन्न होती हैं और उनका दूध भी बढ़ता है जो कि गुणकारी और पुष्टिदायक होता है। गूलर के फलादि के सेवन से अनेक प्रकार के रोग भी दूर होते हैं।^{५३} (झ) पाटा औषध क्षत-विक्षत शरीर को ठीक करती है।^{५४} (ञ) शरनामक औषध के सेवन से मूत्रकृच्छ्र रोग का निवारण होता है।^{५५}

अथर्ववेद^{५६} में गर्भस्थ शिशु के सुगमता के साथ प्रसव कराने का वर्णन है। वहाँ^{५७} यह भी संकेत है कि यदि आवश्यकता पड़े तो प्रसव-क्रिया में शल्य क्रिया का आश्रय भी लिया जा सकता है।

ऋग्वेद^{५८} में एक उतान फलों वाली, श्रेष्ठ गुणों वाली, दिव्य वेध द्वारा प्रेरित बलवती औषध को सम्बोधन करके कहा गया है कि पति-पत्नी बलवान व स्वस्थ रहें और कभी दूसरे किसी स्त्री पुरुष की ओर न देखें। अथर्ववेद^{५९} में एक ऐसी औषध का वर्णन है। सन्तानोत्पत्ति के साथ इसके सेवन से उस स्त्री को पुत्र प्राप्त हो सकता है जिसके पुत्रियां ही हों और पुत्र न हो। वहां लिखा है कि शमी अर्थात् जंड (जाड़ी) नामक औषध जिसके

४७ वही, ५.५

४८ वही, ६.४३

४९ अथर्व. ६.५९

५० वही, ५.४

५१ वही, ६.१०९

५२ वही, ६.१३६-१३७

५३ वही, १९.३१

५४ वही, २.२७

५५ वही, १.२-३

५६ अथर्व. १.११

५७ अथर्व. १.११.५

५८ ऋग्वेद १०.१४५

५९ अथर्व.६.११

ऊपर पीपल का वृक्ष उगा हुआ हो, तो उस पीपल को औषध रूप में स्त्री को खिलाने से पुत्र हो सकता है। सामान्यतः इन औषधियों के फल-पत्ते, छाल और जड़ छाया में सुखाकर उनका बारीक चूर्ण बनाकर पानी या गौ के दूध के साथ सेवन कराया जाता है।^{६०} शमी पर उगे हुए पीपल का सेवन भी इसी प्रकार करना होगा। मन्त्र से यह भी व्यंजना निकल सकती है कि जिस स्त्री को संतान होती ही न हो, उसे भी इस औषध के सेवन से सन्तान हो सकती है।

वेद की कुछ अन्य चिकित्सा पद्धतियों के संकेत भी मनश्चिकित्सा च यज्ञ चिकित्सा वेदों में योग एवं मानसिक शक्ति से रोगों पर विजय प्राप्त करने के स्थल हैं। वेद वस्तुतः मानसिक अथवा आध्यात्मिक रोगों का प्रत्यक्ष निदान हैं। आधुनिक मानसिक चिकित्सा अभी उस स्तर पर नहीं पहुंची। मनश्चिकित्सा के अतिरिक्त चिकित्सा की अन्य पद्धतियों का भी वेदों में वर्णन है। विशेष रूप से यज्ञों द्वारा चिकित्सा का विधान वेदों में है।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में लिखा है कि जो व्यक्ति सुरभि-श्रेष्ठगन्ध युक्त गूगल की गन्ध का सेवन करता है उसको यक्ष्मादि रोग और स्पर्शजन्य छूत के रोग नहीं होते।^{६१} यह धूप चिकित्सा, यज्ञ चिकित्सा का एक अंग रूप है। धूप- चिकित्सा के आधार पर आयुर्वेद में अनेक प्रकार की धूपों के अनेक रोगों के शमनार्थ प्रयोग महर्षियों ने लिखे हैं। पर यह पद्धति आज आयुर्वेद में प्रचलित नहीं है। अतः उस पर अभी अनुसन्धान की आवश्यकता है।

ऋग्वेद^{६२} तथा अथर्ववेद^{६३} सूक्तों में शुद्ध वायु के सेवन के लाभों का वर्णन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि शुद्ध वायु अपने आप में भेषज रूप अर्थात् रोगनिवारक औषधरूप है। जब हम श्वास के द्वारा शुद्ध वायु को अन्दर लेते हैं तो वह दक्ष अर्थात् बल तथा शक्ति प्रदान करती है और जब अन्दर से दूषित वायु को प्रश्वास द्वारा बाहर फेंकते हैं तो वह अपने साथ रपः अर्थात् रोगों को बहाकर बाहर ले जाती है। प्रश्वास द्वारा शरीर के मल दूषित वायु के रूप में बाहर फेंक दिये जाते हैं। यदि ये मल शरीर में ही रह जाते हैं तो हमें कई प्रकार के रोग लग जाते हैं। इसलिए मन्त्र में कह दिया गया है प्रश्वास द्वारा बाहर फेंका जाने वाला दूषित वायु अपने साथ रोगों को बहाकर ले जाता है। यदि हम अपनी परिस्थिति ऐसी बनाकर रखें कि हमें शुद्ध वायु सेवन करने के लिए मिलता रहे तो हम सदा नीरोग रहेंगे। इन सूक्तों में श्वास-प्रश्वास के इस वर्णन द्वारा प्राणायाम का भी प्रकारान्तर से निर्देश दिया गया है। प्राणायाम द्वारा शुद्ध वायु अधिक मात्रा में शरीर के अन्दर जाता है और उस अवस्था में शरीर के रक्त का मल और भी अधिक मात्रा में बाहर निकलता है। योगदर्शन में प्राणायाम का इसीलिए महत्त्व प्रतिपादित किया गया है कि उससे व्यक्ति का मन व देह दोनों ही स्थिर रहते हैं।

ऋग्वेद में भी कहा है कि रोगनाशक एवं सुखकारक वायु हमारे हृदय, शरीर के भीतर के हृदय प्रदेश के भाग के समीपस्थ फुफ्फुसों में अच्छी प्रकार प्रवेश करे, उसमें गति करे। वह भेषजयुक्त वायु जो हमारे हृदय एवं

६० विस्तार के लिए देखें- वेद और उसकी वैज्ञानिकता: भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पृ० ३२४-३५८

६१ न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्रुते। यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्रुते ।। अथर्व १९.३८.१

६२ ऋग्वेद १०.१३७

६३ अथर्व. ४.१३

वक्षस्थल में तथा शरीर के जिस भाग में प्रवेश करे वह रोग को नष्ट कर आयु को देने वाला हो। इसकी व्यंजना यह भी है कि प्रदूषण मुक्त वायु से शरीर स्वस्थ रहता है।^{६४}

जल चिकित्सा- वेद में स्थान-स्थान पर 'आपः' अर्थात् जलों के गुणों का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद के अनुसार जलों में अमृत तथा औषध (भेषज) का निवास है।^{६५} जिस प्रकार रोगों में औषध के सेवन से रोग दूर हो जाते हैं उसी प्रकार जलों को भी औषध के रूप में प्रयोग करके रोगों को दूर किया जा सकता है। अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जलों के ठीक प्रकार सेवन से शरीर में बल (ऊर्जा) उत्पन्न होती है और आँखों को सुन्दर ज्योति प्राप्त होती है। जल रोगों को दूर करके 'मयः' अर्थात् सुख शान्ति प्रदान करते हैं। वहीं जल से प्रार्थना की गई है कि हे जलो! तुममें जो औषध (भेषज) का गुण है वह मुझे भी प्रदान करो और उसके द्वारा मेरे रोगों को दूर करो।

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में कहा है कि 'जलों और रोगशामक अग्नि के संयोग में सब प्रकार की औषधियाँ (भेषजां सुभिषक्तमाः) हैं।^{६६} जलों के द्वारा हृदय के रोगों का निवारण होता है। आँखों के रोगों का भी निवारण होता है तथा पैरों के तलवे और पंजों के रोगों का भी शमन होता है।^{६७} अथर्ववेद के एक अन्य सूक्त के अनुसार जल (जालाष) में बाण आदि द्वारा कट जाने से बने हुए घावों को भरने की शक्ति है।^{६८} शुद्ध जल और दीमकों द्वारा बनाये गये की गीली मिट्टी के प्रयोग से विषों को भी दूर किया जा सकता है।^{६९} आपः जलों के द्वारा यक्ष्म (यक्ष्मा) रोग की भी चिकित्सा की जा सकती है।^{७०}

यजुर्वेद में बताया गया है कि किस औषधि के लिए कौन सा दिव्य मधुर जल होना चाहिए जिससे उसके गुणों की वृद्धि हो।^{७१} यजुर्वेद के एक अन्य सूक्त में सोम रूप से सम्पन्न औषधियों को यज्ञ में हवि रूप में प्रयुक्त करके उससे उत्पन्न मेघों के जलों से सिंचन करने का वर्णन है।^{७२} जो सोम उत्तम हवि है, जो नरों के लिए उत्तम गुणों को धारण किये हुए हैं, तथा जो जलों के माध्यम से निष्पन्न या सिद्ध होता है उस सुसम्पन्न सोम को सोम

६४ ऋग्वेद १०.१८७.१

६५ अथर्व. १.४

६६ अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

६७ अग्निं च विश्वशंभुवम्-अथर्व० १.६.२

६८ अथर्व. ६.५७

६९ वही, ६.१००

७० वही, १९.२.५

७१ स्वादीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन । मधुमतीं मधुमता सृजामि संसोमेन । सोमोऽस्याश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुवाम्णो पच्यस्व ।। यजु० १९.१

७२ परीतो षिञ्चता सुतं सोमो यऽउत्तमं हविः । दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ।। यजु० १९.२

तुल्य प्रभावशाली औषधियों को इस निष्पन्न हुए मेघों से-मेघों के जलों से -सिंचित करो।^{७३} बोने की क्रिया के बाद जल देने की आवश्यकता होती है। अतः जो जल उसमें दिए जावें यदि वे सामान्य हों तो सामान्य गुणयुक्त उत्पत्ति होगी और यदि विशेष प्रकार के जल दिए जावेंगे तो विशिष्ट गुण वाली उत्पत्ति होगी अतः मन्त्र कहता है कि मैं औषधियों को अच्छी प्रकार बोता हूँ।^{७४}

एक अन्य स्थल पर भी जल के भीतर भेषज गुण बताया गया है। जलों में अमृत तत्त्व-जीवनीय एवं आरोग्य तत्त्व हैं। जलो में भेषज तत्त्व हैं। अर्थात् जल के द्वारा हमें निरन्तर, प्राण, जीवन, बल आरोग्यता औषधि, रोग निवारक शक्ति एवं सुख प्राप्त होता है।^{७५}

यजुर्वेद के कुछ अन्य स्थल भी जल चिकित्सा से सम्बद्ध हैं। एक मन्त्र में कहा है कि तुझमें अच्छी प्रकार से औषध और जलों का प्रवेश हो।^{७६} आगे कहा है कि हे अग्ने! तुम्हारे साहचर्य में पृथिवी से उत्पन्न हुए जलों से अपने जीवन का निर्माण करता हूँ। और पृथिवी से उत्पन्न उन विविध रसपूर्ण जलों एवं औषधियों से भी अपने जीवन का निर्माण करता हूँ।^{७७} जिस प्रकार सोम को औषधियों का राजा वेद ने कहा है उसी प्रकार वरुण को चिकित्सकों का स्वामी कहा है। वैसे ही वरुण को जलों का स्वामी कहा जाता है।^{७८} अथर्ववेद के वरुणा पामधिपतिः का अर्थ यही है। जल, चिकित्सकों का स्वामी है। बिना जल के औषधियों का प्रयोग कार्य सम्पन्न हो जावे ऐसा सम्भव नहीं।^{७९} प्रजाओं के आरोग्य के लिए दिव्य मधुर जलों का सम्पादन करो। उन जलों से सींचे हुए प्रदेशों में अच्छे फल वाली औषधि, वनस्पतियाँ उत्पन्न हो। आजकल औषधि को मूल रूप से, प्रारम्भ से ही उत्तम बनाने की ओर ध्यान उतना नहीं गया जितना जाना चाहिए।^{८०}

अग्नि एवं सूर्य-चिकित्सा- अथर्ववेद^{८१} में कहा गया है कि सूर्य की किरणों के सेवन से हृदय के रोग और उनसे उत्पन्न हृदय की पीड़ा भी शान्त हो जाती है तथा सूर्य की लाल किरणों के (गोः रोहितेन) सेवन से पीलिया रोग दूर हो सकता है। इस मन्त्र में सूर्य-किरण के लिए 'गौ' शब्द का प्रयोग हुआ है। गौ शब्द का अर्थ जहां सूर्य की किरण होता है वहां उसका अर्थ सामान्य गौ भी होता है। सूर्य की लाल किरणों के सेवन से तो पीलिया रोग दूर होता ही है, लाल गौ के दुग्ध सेवन से भी इस रोग की चिकित्सा में सहायता मिलती है।

७३ यजु० १९.२

७४ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । सं वपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन ॥ सं रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तां सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ यजु० १.२१

७५ अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः । देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुम्भान् वाजसास्तेनायं वाजं सेत् । यजु० ९.६

७६ समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः । यजुर्वेद २०.१९

७७ सं मा सृजामि परसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः । सोऽहं वाजसनेयमग्ने ॥ यजु० १८.३५

७८ भेषजं स्वाहा सोमम् सुत्रामाणं सवितारं वरुणम् । यजु० २१.४०

७९ अथर्व० ५.२४.४

८० अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः । तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ यजु० ११.३८

८१ अथर्व. १.२२.१

ऋग्वेद^{८२} में सूर्य को सप्ताश्व कहा गया है। सूर्य की सात रश्मियां ही अतिशीघ्रगामी होने के कारण उसके साथ अश्व कहलाते हैं, जिस कारण सूर्य सप्ताश्व है। सूर्य को सप्तरश्मि कहने का अभिप्राय यह है कि सूर्य के प्रकाश की किरणें लाल, पीली, हरी, बैंगनी, नारंगी और आसमानी व सफेद इन सात रंगों की किरणों से मिलकर बनी होती हैं। सूर्य के प्रकाश या किरणों की अति तीव्रगति के कारण ये सात रंग अलग-अलग दिखायी न देकर एक श्वेत रूप में दिखायी देते हैं। सूर्य किरणों से रोगों की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक रोग के अनुसार भिन्न-भिन्न रंग वाली बोतलों में शुद्ध जल भरकर उसे सूर्य की धूप में रख देते हैं। फिर रोग के अनुसार उन बोतलों का पानी रोगी को पिलाया जाता है। पीलिया रोग वाले व्यक्ति को प्रातः और सायं सूर्य की लाल किरणों का सेवन करना चाहिए। लाल बोतल में पानी भरकर रखने से लाल किरणों का अंश आ जाता है।

अथर्ववेद में सूर्य को कृमियों का हन्ता^{८३} और अग्नि को कृमियों का नाशक तथा उन्हें जलाकर दग्ध कर देने वाला कहा गया है।^{८४}

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वेदों में आयुर्वेद विषयक ज्ञान का विशाल भण्डार है। वस्तुतः भारत में आयुर्वेद का मूल वेद ही है। अतः इस दृष्टि से भी वेदों का विस्तृत अध्ययन करना चाहिए।

८२ ऋग्वेद ५.४९.९

८३ उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्नोचन् हन्तुरश्मिभिः । अथर्व० २.३२.१

८४ सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् । भिनद्ध्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ।। अथर्व० ५.२३.१३

जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म: वेदान्त दर्शन के ब्रह्ममुनि भाष्य के अनुसार

ऋचा

संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

प्रो. (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार

शोध-निर्देशक, पालि एवं प्राकृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

प्रकृष्ट ईक्षण, जिसमें अन्तश्चक्षुओं द्वारा देखना या मनन करके निष्कर्ष निकालना ही अभिधेय है, वह दर्शन कहलाता है। प्रकृष्ट ईक्षण के साधन और फल दोनों का नाम दर्शन है। जहाँ पर इन सिद्धान्तों का संकलन हो, उन ग्रंथों का नाम भी दर्शन होगा। दर्शन विषयक विचारधाराओं को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित करते हैं- आस्तिक व नास्तिक।

वेदान्त दर्शन को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से आत्मा के औपनिषदिष्ठ तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा और परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करने वाले प्रतिभामूलक वेदान्त में हुआ। महर्षि बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' का निर्माण किया। इस ब्रह्मसूत्र को वेदांतसूत्र, शारीरकसूत्र या उत्तरमीमांसा कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्रों पर अनेक विद्वानों ने भाष्य टीका लिखी हैं। वर्तमान में उपलब्ध भाष्यों में अद्वैतवादी स्वामी शंकराचार्य का भाष्य प्राचीन और प्रमुख माना जाता है। ब्रह्मसूत्रों पर स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का भाष्य भी उपलब्ध होता है। ब्रह्ममुनि का वेदान्त भाष्य आर्ष परम्परा के अन्तर्गत आता है जिसमें त्रैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्ममुनि भाष्य में ब्रह्म (ईश्वर), जीव व प्रकृति इन तीन तत्त्वों का निरूपण है। जिसमें ईश्वर को निमित्त कारण व प्रधान (प्रकृति) को उपादान कारण बतलाया गया है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में प्रतिपादित किया है कि इस समस्त इन्द्रियगोचर और मनोगोचर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध होने वाले जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय ब्रह्म से होते हैं-

“जन्माद्यस्य यतः”^१जगत् उत्पत्ति का करने वाला ब्रह्म है यह बात वेदों के प्रमाण से भी सिद्ध होती है।

यथा-

“द्यावाभूमी जनयन् देव एकः”^२अर्थात् आकाश से लेकर भूमि पर्यन्त सृष्टि का उत्पन्न करने वाला परमात्मा है।

स्वामी ब्रह्ममुनि ने नासदीय सूक्त के मन्त्रों के भावार्थ प्रस्तुत किये हैं।

१ ब्रह्मसूत्र १.१.२

२ ऋग्वेद १०.८१.३

यथा-

“तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

तुच्छयेनाम्बुपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।।”^३

अर्थात् सृष्टि से पूर्व अन्धकार से आच्छादित अन्धकारमय था, जल समान अवयव रहित न जानने योग्य 'आभु' नाम से परमात्मा के सम्मुख तुच्छ रूप में एकदेशी अव्यक्त प्रकृति रूप उपादान कारण था, जिससे यह सृष्टि आविर्भूत होती है, उस ईश्वर के ज्ञानमय तप से प्रथम महत्त्व उत्पन्न हुआ। परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप प्रकृति से कार्यरूप जगत् को उत्पन्न किया।

जगत् का पालन व धारण कर्ता ब्रह्म है। यथा-

“स दाधार पृथिवी द्यामुतेमाम्”^४

अर्थात् ब्रह्म ने इस पृथिवी व द्युलोक को धारण किया हुआ है।

यह सम्पूर्ण जगत् जिसमें विलीन होता है वह परमात्मा है-

“तस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम्”^५

अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होता है व उसमें विलीन होता है। ब्रह्म इस सम्पूर्ण विश्व का परम सत्य है और जगत् का सार है। वो दुनिया की आत्मा है। वो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कारण है, जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है, जिसमें जगत् आधारित होता है और अन्त में विलीन हो जाता है। इस विषय में उपनिषद् में कहा गया है-

“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।।”^६

अर्थात् जिस कारणरूप से ये सब प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिस साधकरूप सर्वाधार वा सर्वपोषक की सहायता से उत्पन्न हुए प्राणी जीवित रहते हैं, जिसमें प्रलय के समय लीन होते हैं, वह ब्रह्म है। उसी को जानो।

स्वामी ब्रह्ममुनि अपने भाष्य में लिखते हैं कि न केवल शास्त्र प्रमाण ही जगत् के जन्मादि विषय में ब्रह्म को कारण मानते हैं, अपितु समन्वय से या सम्यक् अनुमान से भी जगत् का कर्ता ब्रह्म ही सिद्ध होता है। यथा-

“तत्तु समन्वयात्”^७

३ ऋग्वेद १०.१२९.३

४ यजुर्वेद १३.४

५ यजुर्वेद ३२.८

६ तैत्तिरीय उपनिषद् ३.१

७ ब्र०सू० १.१.४

उपरोक्त सूत्र की व्याख्या में स्वामी ब्रह्मसुनि कहते हैं कि जगत् का जन्मादि कार्य ब्रह्म से सम्पन्न होता है, यह वृत्त समन्वय^८ से अर्थात् समनुगत सम्यक् अनुमाना से युक्ति द्वारा प्राप्त होने से सिद्ध होता है।

जगत् की उत्पत्ति, पालन व विनाश का करने वाला ब्रह्म है, यह बात अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होती है, जैसे संसार में हमें जो भी वस्तु दिखलाई पड़ती है उसका कर्ता अवश्य होता है। जैसे घड़े कार्य वस्तु का कुम्भकार कर्ता कारण है वैसे ही कार्य-रूप जगत् का ब्रह्म ही कारण है।

वह ब्रह्म कैसा कारण है निमित्तकारण या उपादानकारण ? इस विषय में स्वामी ब्रह्मसुनि अपने भाष्य में कहते हैं कि-

“ईक्षतेर्नाशब्दम्”^९

अर्थात् ईक्षण क्रिया का कर्ता होने से ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, यह बात शब्द प्रमाण से भी सिद्ध होती है। ईक्षण क्रिया के चेतन होने से चेतन निमित्त कारण ही हो सकता है, उपादान कारण नहीं। जड़ प्रधान प्रकृति में ईक्षण का सामर्थ्य सिद्ध नहीं होता है। जगत् का जन्मादि वृत्त शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है। यथा-

“आत्मा या इदमग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकाञ्चसृजा इति- स इमान् लोकानसृजत”^{१०}

अर्थात् सृष्टि रचना से पूर्व एक परमात्मा ही विद्यमान था, उस आत्मा से भिन्न कोई स्थूल निमेषादि क्रियावाला नहीं था। उस ईश्वर ने ईक्षण किया कि प्रत्यक्ष देखने योग्य स्थावर जंगम पदार्थों से युक्त लोकों को मैं रचूँ अर्थात् लोकों को उत्पन्न करूँ।

उपर्युक्त उपनिषद् वचन में आया हुआ 'आत्मा' शब्द परमात्मा के लिए है। अतः ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है।

अन्य भी-

“तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत”^{११}

अर्थात् उसने ईक्षण किया कि मैं अनेक हो जाऊँ अर्थात् अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ, इस प्रकार ईक्षण कर उसने तेज उत्पन्न किया। सृष्टि रचना प्रकरण में ईश्वर में ईक्षण क्रिया गौण है, जैसे-

“तत्तेज ऐक्षत”^{१२}

अर्थात् तेजत्रयि ने ईक्षण किया।

८ समन्वय- सम्यगन्वयः; "अन्वय- कार्यकारणानुवृत्तिः", अनुगति- जन्माद्यस्य यतोऽन्वयवदिति, "कारणस्यानुसरण कारणस्य कार्यस्थितिः

(शब्दार्थचिन्तामणि)

९ ब्र० सू० १.१.५

१० ऐतरेय उपनिषद् १.१.१

११ छन्दोगोपनिषद् ६.२.३

१२ वही

“ता आप ऐक्षन्त”^{१३} अर्थात् जलों में ईक्षण किया।

उपर्युक्त स्थलों में ईक्षण का प्रयोग गौण है, इसी प्रकार ब्रह्म में भी ईक्षण का प्रयोग गौण हो सकता है। पुनः ब्रह्म भी जगत् का निमित्त कारण न होकर जड़ की भांति उपादान कारण हो सकता है, यदि ऐसा कोई कहता है तो यह कथन ठीक नहीं है-

“आत्मा वा इदमग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्ब्रुसृजा इति- स इमान् लोकानसृजत”^{१४}

यहाँ लोक सर्जन प्रकरण में आत्मा शब्द परमात्मा के लिए पढ़ा गया है। आत्मा ही सृष्टि बनने से पूर्व जागृत अवस्था में था और कोई दूसरा पदार्थ जागृत अवस्था में नहीं था।

अतएव चेतनस्वरूप होने से ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है, उपादान कारण नहीं है।

इसी प्रकरण में आगे कहते हैं कि आत्मा शब्द चेतन और अचेतन दोनों में प्रयुक्त होता है, जैसे भूतात्मा, इन्द्रियात्मा। केवल आत्म शब्द के प्रयोग से ईक्षति मुख्य है यह कैसे माना जाये ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-

“तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्”^{१५}

इस सूत्र की व्याख्या में स्वामी ब्रह्ममुनि कहते हैं कि उस परमात्मा में जिसकी निष्ठा या आस्था है ऐसे मुमुक्षु चेतन पुरुष के लिए ही मोक्ष का उपदेश किया है। यथा-

अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।।^{१६}

यहाँ पर प्रयुक्त आत्मा शब्द 'ब्रह्म' का वाचक है। उस परमात्मा को जाता हुआ जीव मृत्यु से नहीं डरता है, यह कहा है। अन्यच्च-

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश।।^{१७}

यहाँ आत्मा का परमात्मा में सन्निवेश कहा है। अन्य भी-

नित्यो नित्यानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।^{१८}

१३ वही

१४ ऐत० उ० १.१.१

१५ ब्र० सू० १.१.७

१६ अथर्ववेद १०.८.४४

१७ यजु० ३२.११

१८ कठोपनिषद् ५.१३

अर्थात् चेतन ब्रह्मदर्शन से शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है यह स्पष्ट किया है। अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है उपादान नहीं।

आत्मा का आश्रय होने से भी ब्रह्मात्मा ही निमित्त कारण है। यथा-

“स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते”^{१९}

अर्थात् वह जीवात्मा परमात्मा में समवस्थित हो जाता है। वेद में भी कहा है-

“आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविशेत्”^{२०} यहाँ पर आत्मा का परमात्मा में सन्निवेश के लिए आदेश है। अतः जीवात्मा का आश्रय होने से भी ब्रह्म को ही निमित्त कारण स्वीकार करते हैं।

यदि यह प्रश्न किया जाये कि किस कारण से प्रधान प्रकृति जगत् का निमित्त कारण नहीं है ? इस पर स्वामी ब्रह्ममुनि अपने भाष्य में लिखते हैं कि-

लोक व्यवहार की समानता से अर्थात् लोक व्यवहार में यह देखा जाता है कि चेतन तत्त्व ही निमित्त कारण होता है, जैसे कड़े का स्वर्णकार, घड़े का कुम्भकार, कपड़े का जुलाहा, मिष्टानादि भोजन का पाचक रसोइया निमित्त कारण होता है। उपादान तो जड़ वस्तु क्रमशः सोना, मिट्टी, रूई या सूत तथा धान्य होता है। अतः चेतन स्वरूप होने से परमात्मा निमित्त कारण है न कि उपादान कारण। प्रकृति जड़ होने से उपादान कारण है।^{२१}

शास्त्रों में भी ब्रह्म को ही जगत् का निमित्त कारण बतलाया है। यथा-

“ईशा वास्यमिदं सर्वम्”^{२२}

“स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः”^{२३}

अर्थात् वह परमेश्वर सभी का कारण है, उसका न कोई उत्पत्ति-कर्ता है और न कोई स्वामी है। उपर्युक्त श्रुतियों में 'ईशा' और 'अधिपः' शब्द से परमात्मा ही निमित्त कारण सिद्ध होता है।

निष्कर्ष

चेतन स्वरूप व आत्मा का आश्रय होने से तथा सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व चेतना रूप से विद्यमान होने से ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है। ब्रह्म का निमित्त कारण होना अनेक युक्ति प्रमाणों से ब्रह्ममुनि भाष्य में सिद्ध किया गया है।

स्वामी ब्रह्ममुनि ने स्वभाष्य में त्रैतवाद का प्रतिपादन किया है। जिसमें चेतनस्वरूप होने से ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण बतलाया है क्योंकि चेतन ही जगत् का निमित्त कारण हो सकता है, जड़ प्रकृति नहीं। प्रधान प्रकृति जड़ होने से उपादान कारण है। अतः ब्रह्म जगत् का निमित्तकरण है। स्वामी ब्रह्ममुनि, अद्वैतवादी आचार्य शंकर के समान ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार नहीं करते हैं।

१९ प्रश्नोपनिषद् ४.५

२० यजु. ३२.११

२१ ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम् १.१.१०, व्याख्या भाग

२२ यजु. ४०.१

२३ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.९

मनुस्मृति में साक्ष्य एवं उसकी परीक्षा

डॉ० जीतेन्द्र कुमार

सह आचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय बयाना, भरतपुर, राजस्थान

सत्य और न्याय परिवार, समाज एवं राष्ट्र की नींव है, आधारशिला है। इसके बिना किसी भी प्रकार का धर्माचार, सदाचार और सात्विक व्यवहार होना सम्भव नहीं है। कोई भी आचरण सत्य और न्याय की धुरी को धारण करके ही वह सम्यक् रूप से सम्पादित होता है तथा सुपरिणाम प्रदान करता है। परन्तु व्यवहार करते हुए अधिकांश व्यक्तियों की प्रवृत्ति होती है कि वह अपने अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के मूल्यांकन में जिन तत्वों सत्य, धर्म एवं न्याय को आधार बनाते हैं उन्हीं तत्वों का प्रयोग अपना तथा अपनों का आकलन करने में नहीं कर पाते हैं अपितु असाधारण रूप से उदार हो जाते हैं। उस उदारता के आवरण में अपने अन्तस्तल की निचली परत में जमे घमण्ड, पाखण्ड, लोभ, मोह, प्रयोजन, या स्वार्थ के वशीभूत होकर ही अन्याय को जन्म देते हैं तथा उसका विस्तार भी करते हैं और उस अन्याय, अनीति, अत्याचार, अनाचार को न्यायोचित ठहराने के लिए झूठ का, मिथ्याभाषण का, वितथ का, अनृत का आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवहार न्यायिक संस्था को एवं न्याय-व्यवस्था को जन्म देने के लिए बाध्य करता है। इसलिए देश में, समाज में अराजकता और अन्याय से बचने के लिए न्यायिक संस्थाओं के साथ ही उनके आदेशों, निर्देशों की पालना सुनिश्चित करने हेतु विभिन्न कार्यकारी संस्थानों का सशक्त, सक्रिय और पक्षपात रहित होना भी अत्यन्त आवश्यक है। नीतिशास्त्र में किसी भी संस्थान के लिए सत्य की महत्ता का प्रतिपादन बहुत ही सूक्ष्मता के साथ किया गया है। विदुर नीति के एक श्लोक में कहा है कि- वह सभा सभा नहीं है जिसमें वृद्ध व्यक्ति नहीं है तथा वह वृद्ध वृद्ध नहीं है जो धर्म की बात न कहते हों और वह धर्म धर्म नहीं है जिसमें सत्य का सम्पूर्ण समावेश न हो एवं अन्तिम चरण में कहा है कि वह सत्य सत्य नहीं है जिसमें छल का अन्तर्भाव विद्यमान हो।^१ इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि युवा व्यक्ति वृद्ध नहीं हो सकता है प्रत्युत सत्य धर्म का पालन करने वाले किसी भी आयु के व्यक्ति की महत्ता और उपयोगिता को रेखांकित किया गया है।

राजा और सभासदों को सत्य की रक्षा एवं प्रतिष्ठा करनी चाहिए

भारत का सर्वप्रथम संविधान के समान आदरास्पद स्थान प्राप्त ग्रन्थ मनुस्मृति में भी मनु महाराज इसी प्रकार सत्य बोलने वाले व्यक्ति को ही सभा में प्रवेश की अनुमति देते हुए दिखाई देते हैं और इतना ही नहीं सत्य का जो सभासद गला घोट देता है उसको महापापी की संज्ञा से संबोधित करते हैं। सभी सभासदों का यह कर्तव्य है कि सभा और किसी समिति का प्रथम तो सदस्य ही न बने और किसी विशेष परिस्थिति में बना दिया गया है

१ न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धाः न ते ये न वदन्ति धर्मम्। धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति, सत्यं न तद् यच्छलमभ्युपैति।। विदुर नीति - ३५-५८

तो सभा में कभी प्रवेश न करे और जो प्रवेश कर लिया हो तो सत्य ही बोले। जो कोई सभा में अन्याय होता हुआ देखकर मौन रहे अथवा सत्य और न्याय के विरुद्ध बोले या उसका समर्थन करे तब वह व्यक्ति महापापी होता है।^२ यहाँ पर सत्य की जोरदार वकालत की गई है सत्य के लिए बड़े से बड़ा पद, प्रतिष्ठा, पैसे का परित्याग करके भी सत्य की स्थापना तथा प्रतिष्ठापना पर बल दिया गया है।

मनुस्मृति के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती धर्म का नाश करने वाले व्यक्ति को वृषल अर्थात् शूद्र एवं नीच की संज्ञा प्रदान करते हैं। इसमें शूद्र की परिभाषा भी सन्निहित हो गई है। जो सभी प्रकार के ऐश्वर्यों को देने और सुखों की वर्षा करने वाला धर्म है उसका लोप करता है उसी को विद्वान् लोग वृषल अर्थात् शूद्र और नीच जानते-समझते और कहते हैं। इसलिए किसी मनुष्य को धर्म का नाश करना उचित नहीं है।^३

सभा और समिति के सदस्य यदि परस्पर मिल-मिलाकर सामूहिक रूप से सत्य और धर्म का हनन करते हैं तो उसमें सभी सभासदों को मरा हुआ समझो। इस प्रकार मनुस्मृति में धर्म एवं सत्य के प्रति आस्था व्यक्त की गई है। जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है उस सभा में सभी सदस्यों को मरा हुआ समझना चाहिए। उसमें कोई भी जीवित व्यक्ति नहीं है।^४

कोई भी अन्याय चार प्रकार के लोगों में बंट जाता है। उसको ही एक श्लोक में अभिव्यक्त किया गया है- राज्यसभा में जब अधर्म पूर्वक पक्षपात से युक्त अन्याय किया जाता है तो उसके चार विभाग किए गए हैं। श्लोक निम्न प्रकार से द्रष्टव्य है। जिस राज्यसभा में भेदभाव पूर्वक अन्याय किया जाता है वहाँ अधर्म के चार विभाग होते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्ता को, दूसरा उसके साक्षी को, तीसरा सभासदों को और चौथा पाद अर्थात् चरण अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है।^५

राजा और सभासदों को पाप मुक्त होने का उपाय

राजा और सभी समिति सदस्यों का दायित्व है कि वे निन्दनीय की निन्दा, स्तुत्य की स्तुति, दण्ड्य को दण्ड तथा मान्य को मान दें। तब वे पाप रहित और पवित्र होते हैं और पाप के करने वाले व्यक्ति को ही पाप एवं पाप का परिणाम प्राप्त होता है।^६ पापी और अपराधी को ही अपराध का दण्ड प्राप्त हो इसके लिए उसको बचने तथा बचाने का कोई अवसर छूटना नहीं चाहिए। इसलिए ही उक्त बात को दृढ़ता से कहा गया है। न्यायाधीश साक्ष्यों की परीक्षा बाहरी और आन्तरिक चिह्नों से यथावत् करने का कार्य करें जिससे किसी के साथ अन्याय न हो सके। इसके लिए कुछ लक्षणों का उल्लेख मनु महाराज ने किया है उनको लिखना अत्यन्त प्रासंगिक है।

२ सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुवन्ब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ मनुस्मृति - ८-१०

३ वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ मनु- ८-१३

४ यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदाः ॥ मनु- ८-११

५ पादोऽधर्मस्य कर्तारः पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ मनु- ८-१५

६ राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति कर्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्दते ॥ मनु- ८-१६

साक्ष्य की परीक्षा के प्रकार

न्याय कर्ता को बाहर के चिह्नों से- वेशभूषा, चाल, शरीर की मुद्राएं आदि लक्षणों से, स्वर- बोलते समय रुकना, घबराना, गद~गद~ होना आदि से, वर्ण- चेहरे का फीका पड़ना, लज्जित होना आदि से, इंगित- मुकदमे के अभियुक्तों को परस्पर संकेत करते हुए देखना, सामने न देख सकना, इधर-उधर देखना आदि से, आकार - मुख, नेत्रादि का चलायमान रहना, आकार बनाना, कांपना, पसीना आना इत्यादि से, चक्षु - आंखों से उत्पन्न होने वाले भावों से और चेष्टाओं से हाथ मसलना, उंगलियां चटकाना, अंगूठे से जमीन कुरेदना, सिर खुजलाना आदि से अभियोग में सम्मिलित लोगों के अंतर्भाव, मन के असली भावों को भांप लेना, जान लेना या समझ लेना चाहिए।^७ आकार-प्रकारों से, संकेतों से, चाल से, हरकतों से, अन्य चेष्टाओं से और बोलने के अंदाज से तथा नेत्र एवं मुख के विकारों, हाव-भावों से मनुष्यों के मन का भीतरी भाव पता चल जाता है अथवा ज्ञात हो जाता है।^८ साक्षियों की योग्यता और साक्ष्य लेने की विधि तथा किस प्रकार के लोगों को साक्षी बनाना चाहिए इसका मनुस्मृति में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है- साहूकारों अर्थात् धन देने वालों को मुकदमों में जैसे साक्षी बनाने चाहिए उनको और उन साक्षियों को जिस प्रकार सत्य बात कहनी चाहिए उसे अब आगे कहूंगा।^९ सब वर्णों में धार्मिक विद्वान् निष्कपट सब प्रकार से धर्म को जानने वाले, लोभरहित, सत्यवादियों को न्याय व्यवस्था में साक्षी करें इनसे विपरीत को कभी न करें।^{१०} स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों।^{११} जितने बलात्कार के काम, चोरी, व्यभिचार, कठोर वचन, दंड निपातन रूप अपराध हैं उनमें साक्षी की परीक्षा न करें और अत्यावश्यक भी न समझें क्योंकि यह काम सब गुप्त होते हैं।^{१२} दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल और दोनों के साक्षी उत्तम गुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि-महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करें।^{१३} साक्ष्यों के प्रकार-

दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है एक साक्षात् देखने और दूसरा सुनने से, जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें वे धर्महीन और दंड के योग्य न हों और जो साक्षी मिथ्या बोलें वे यथायोग्य दण्डनीय हों।^{१४} जो

७ बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णङ्गताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ मनु- ८-१७

८ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च । नेत्रवक्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ मनु- ८- १८

९ यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः । तादृशान् सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ मनु- ८-४३

१० आसाः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥ मनु- ८-४४

११ स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः । द्विजानां सदृशाः द्विजाः । शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ मनु- ८-४६

१२ साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च । वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ मनु- ८-४८

१३ बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ मनु- ८-४९

१४ समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति । तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ मनु- ८-५०

राज्यसभा या किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले तो वह (अवाङ् नरक) अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःख रूप नरक को वर्तमान समय में प्राप्त हो और मरे पश्चात् सुख से विहीन हो जाए।^{१५} साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव ही से व्यवहार सम्बन्धी बोले और सिखाए हुए इससे भिन्न जो जो वचन बोले उस-उस को न्यायाधीश व्यर्थ समझें।^{१६} जब अर्थी अर्थात् वादी और प्रत्यर्थी अर्थात् प्रतिवादी के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को शान्तिपूर्वक न्यायाधीश और प्राड्विवाक् अर्थात् वकील या बैरिस्टर इस प्रकार से पूछें।^{१७} हे साक्षि लोगो! इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो उसको सत्य के साथ बोलो तुम्हारी इस कार्य में साक्षी है।^{१८} जो साक्षी सत्य बोलता है वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होकर सुख भोगता है।^{१९} इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है। इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलने योग्य है।^{२०} आत्मा का साक्षी आत्मा और आत्मा की गति आत्मा है इसको जानकर हे पुरुष! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर अर्थात् सत्य भाषण जो कि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य और जो इससे विपरीत है वह मिथ्या भाषण है।^{२१} जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर का जानने वाला आत्मा भीतर शंका को प्राप्त नहीं होता उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते।^{२२} हे कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुष! जो तू मैं अकेला हूँ ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है वह ठीक नहीं है किन्तु जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामी रूप से परमेश्वर पुण्य-पाप को देखने वाला मुनि स्थित है उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर।^{२३} जो लोभ, मोह, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी दे वह सब मिथ्या समझी जाए।^{२४} इनमें से किसी स्थान पर साक्षी झूठ बोले तो उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड दिया करें।^{२५}

१५ साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्थ संसदि । अवाङ्गरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाश्च हीयते ॥ मनु-८-५१

१६ स्वभावैर्नैव यद् ब्रूयस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यद्विब्रुयुर्धर्मार्थं तदपार्थक्यम् ॥ मनु- ८-५२

१७ सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थं प्रत्यर्थिसन्निधौ । प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥ मनु- ८-५३

१८ यद् द्वयोः अनयोर्वैत्थ कार्येऽस्मिन्श्रेष्ठतं मिथः । तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता । मनु- ८-५५

१९ सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानामोति पुष्कलान् । इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेशा ब्रह्मपूजिता । मनु- ८-५६

२० सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते । तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ मनु- ८-५७

२१ आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । मावसंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ मनु- ८-५८

२२ यस्य विद्वान्नि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते । तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ मनु- ८-६०

२३ एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याणं मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ मनु- ८-५९

२४ लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्क्रामात्क्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ मनु- ८-६२

२५ एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषास्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ मनु- ८- ६३

जो लोभ से झूठी साक्षी दे उससे पन्द्रह रूपए दश आने दण्ड ले, जो मोह से झूठी साक्षी दे उसे तीन रूपए दो आने दण्ड ले, जो भय से मिथ्या साक्षी दे उसे सवा छः रूपए दण्ड ले और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी दे उसे साढ़े बारह रूपए दण्ड ले^{२६} जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी दे उससे पच्चीस रूपए दण्ड ले, जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी दे उससे छियालीस रूपए चौदह आने दण्ड ले, जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी दे उससे तीन रूपए दण्ड ले और जो बालकपन से मिथ्या साक्षी दे तो उससे एक रूपये नौ आने दण्ड ले।^{२७}

शारीरिक दण्ड के स्थान

दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, आंख, नाक, कान, धन और देह यह दस स्थान हैं।^{२८} जिन पर दण्ड दिया जाता है परन्तु जो जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे जैसे लोभ के साक्षी देने में १५:१० आने दण्ड लिखा है किन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम और धनवान् हो तो उसे दो गुना, तीन गुना और चौगुना तक भी ले अर्थात् जैसा देश जैसा काल और जैसा पुरुष हो उसका जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करें।^{२९} क्योंकि इस संसार में जो धर्म से दण्ड करना है वह पूर्व प्रतिष्ठा वर्तमान और भविष्य में परजन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करने वाला है और परजन्म में भी दुःखदायक होता है। इसलिए अधर्म युक्त दण्ड किसी को भी न दे।^{३०} जो राजा दण्डनीयों को दण्ड न देकर और अदण्डनीय को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता है और जिसको दण्ड नहीं देना चाहिए उसको दण्ड देता है वह जीवित होता हुआ भी बड़ी निन्दा को और मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए जो अपराध करे उसको सदा दण्ड दे और जो अनपराधी को दण्ड कभी न दे।^{३१} प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी सार्वजनिक निन्दा, दूसरा दण्ड धिक् अर्थात् तुझको धिक्कार है तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया? तीसरा उससे धन लेना और चौथा वध दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा या बेंत से मारना या सर काट देना।^{३२}

पहले "मेरे साक्षी है" ऐसा कहकर और फिर गवाही के समय न्यायाधीश के द्वारा 'साक्षी लाओ' ऐसा कहने पर जो साक्षी को प्रस्तुत न कर सके तो न्यायाधीश इन कारणों के आधार पर भी मुकदमा दायर करने वाले को पराजित घोषित कर दे।^{३३} जो अभियोक्ता मुद्दे पहले मुकदमा दायर करके फिर अपने मुकदमे के लिए कुछ न कहे तो उसे धर्म अनुसार कारावास या सजा और जुर्माना करना चाहिए। इसी प्रकार यदि तीन परखवाड़े अर्थात्

२६ लोभात्सहस्रं दण्डयत्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ मनु- ८- ६४

२७ कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानात् द्वे शर्ते पूर्णे बालिय्याच्छतमेव तु ॥ मनु- ८-६५

२८ उपस्थसुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ मनु- ८- ६६

२९ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः । साराऽपराधौ चालोक्य दण्डो दण्डेषु पातयेत् ॥ मनु- ८-६७

३० अधर्मदण्डनं लोके यशोन्नं कीर्तिनाशनम् । अस्वर्ग्यञ्च परत्राऽपि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ मनु- ८- ६८

३१ अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महद् आमोति नरकं चैव गच्छति ॥ मनु- ८- ६९

३२ वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विदण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ मनु- ८-७०

३३ साक्षिणः सन्ति मेल्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः । धर्मस्थः कारणैरैतेर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ मनु- ८-४०

डेढ़ मास तक अभियोगी अपनी सफाई में कुछ न कहे तो धर्मानुसार अर्थात् कानून के अनुसार वह हार जाता है।^{३४}

राजा अथवा कोई राजपुरुष स्वयं किसी झगड़े को उत्पन्न न करें अर्थात् स्वार्थ, लालच आदि के कारण किसी झगड़े को पैदा न करें और न ही बढ़ाये तथा किसी वादी, प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किए गए मुकदमे के वास्तविक न्याय को किसी भी प्रकार अर्थात् स्वार्थ, लालच आदि के कारण न दवाये, न उपेक्षा करे अर्थात् सही-सही न्याय करें।^{३५} जिस प्रकार शिकारी खून के धब्बों से हिरण के स्थान को प्राप्त कर लेता है वैसे ही राजा या न्याय कर्ता अनुमान प्रमाण से धर्म के तत्व अर्थात् वास्तविक न्याय का निश्चय करें। मुकदमों का फैसला करने के लिए तैयार हुआ राजा मुकदमे की सत्यता, उद्देश्य अपनी आत्मा के निर्णय को और साक्षियों को तथा देश स्वरूप एवं समय को अच्छी प्रकार देखें अर्थात् विचार करके ही अपना निर्णय दें।^{३६} चाहे पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित ही क्यों न हो जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता वह राजा के द्वारा दण्ड देने योग्य होता है अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करें तब किसी का पक्षपात न करें किन्तु यथोचित दण्ड दें।^{३७} सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता है-

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता है और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलने योग्य है। यदि कोई झूठी गवाही दे और बाद में निर्णय के पश्चात् भी यदि पता चले तो न्यायाधीश को चाहिए कि वह उस अभियोग पर पुनः विचार करें और पूर्व के अभियोग में जो निर्णय दिया है उसको निरस्त करें।^{३८} इस प्रकार का मनुस्मृति में भी विधान किया हुआ है जिस-जिस मुकदमे में यह पता लगे की झूठी या गलत साक्षी हुई है उस-उस निर्णय को रद्द करके पुनः विचार करें। क्योंकि वह किया हुआ काम अर्थात् निर्णय भी न किये के समान है। वर्तमान में भी इस प्रकार का विधान एवं कानून में प्रावधान किया हुआ है कि आज भी यदि लोअर कोर्ट से कोई व्यक्ति हार जाता है तो वह हाई कोर्ट में अथवा सुप्रीम कोर्ट में नए तथ्यों को नये साक्षियों को सामने रखकर पुनर्विचार के लिए याचिका दायर करता है यह व्यवस्था उस पुरातन मनु महाराज के समय में भी दिखाई देती थी अर्थात् इसके पीछे उद्देश्य यही है कि किसी भी प्रकार से गलती को सुधार लिया जाए अथवा जब भी सच का पता चले उसको सही कर लिया जाए जिससे कि किसी के साथ भी अन्याय न हो और निर्दोष को सजा न हो जाए तथा दोषी किसी भी प्रकार से कानून से बच न पाए। यह व्यवस्था करना राजा का और न्यायाधीश का प्रथम और प्रमुख कर्तव्य है। इसलिए मनुस्मृति में मनु महाराज कहते हैं कि अपने-अपने कर्तव्यों को करते हुए और अपने-अपने कर्तव्य कर्मों में स्थित रहने वाले मनुष्य दूर रहते हुए भी समाज के प्रिय अर्थात् लोकप्रिय होते हैं।^{३९}

३४ अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद्ब्रूयो दण्ड्यश्च धर्मतः । न चेन्नपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ मनु- ८-४१

३५ नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पुरुषः । न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ मनु- ८-३०

३६ यथा नवत्यसुकपातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् । नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ मनु- ८-३१

३७ पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः । नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मं न तिष्ठति ॥ मनु- ८-३३

३८ यस्मिन्मन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ मनु- ८-६१

३९ स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः । प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ मनु- ८-२९

वैदिक स्त्रियों का वैविध्यपूर्ण सच्चरित्र

डॉ० रक्षिता

अतिथि प्रवक्ता, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ

“न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते । गृहं तु गृहिणी हीनमरण्यसदृशं मतम्” ॥

सुख और समृद्धि की जननी स्त्रियों को विविध रूपों में पुरुषों के अर्धांश रूप में सहधर्मिणी, सहचारिणी, वामांगिनी, अर्द्धांगिनी जैसे विभिन्न शब्दों से पुरुषों की पूर्णता को अभिव्यक्त करते हुए कहीं माता, बहन, पत्नी, ब्रह्मचारिणी, आचार्या, प्रचारिका, उपदेशिका के रूप में भी चित्रित किया गया है, जो अपनी विद्या, बुद्धि, तेज एवं शक्ति से न केवल पुरुष को बल्कि परिवार, समाज व राष्ट्र को भी प्रभावित करने में सक्षम है तथा उसे क्रमशः उत्कृष्टता प्रदान करती है।^१

एक विशिष्ट बात यह भी है कि वेदों में जो पृथ्वी, उषा, नदी, गौ आदि शब्द हैं, वे स्त्रियों के भी वाचक हैं, जो प्रसंगानुसार स्त्रियोंकी उच्चता एवं उसकी विविध गुणगणिमा को भी प्रकट करते हैं, जैसे “गौ” शब्द उसकी गतिशीलता, “क्ष्मा” शब्द उसकी सहनशीलता “अवनि” शब्द (अव् रक्षणे धातु) रक्षक शक्ति तथा “मही” शब्द महनीयता और पूज्यता का वाचकभी है।

कालिदास की रचनाओं में भी पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों में दया, करुणा, सहयोग, प्रेम और समर्पण की भावना अधिक मिलती है। कालिदास ने अपने काव्यों के अन्तर्गत स्त्रियों में पर्वत के समान धैर्यता, गंगा के समान पवित्रता, चन्द्रमा के समान उज्वलता, सौन्दर्यता तथा मातृत्व, ममता का जो चित्रण किया है, वह अतुलनीय है।

वेद के अनुसार वधू पतिगृह में दासी बनकर नहीं, अपितु वह तो रानी या साम्राज्ञी बनकर आती है। वह केवल पति की दृष्टि में ही साम्राज्ञी नहीं होती, अपितु सास, ससुर, देवर की दृष्टि में भी उसका स्थान साम्राज्ञी की भाँति है -

“साम्राज्ञी श्वसुरे भव साम्राज्ञी श्वश्रवां भव । ननांदरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधिदेवेषु” ॥^२

वेद के एक अन्य मन्त्र में स्त्री को ग्यारह नामों से सम्बोधित करते हुए एवं नाम के अनुरूप दिव्यताओं की प्राप्ति के लिए स्त्री से प्रार्थना की गयी है-

“इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते अदिते सरस्वति महि विश्रुति ।

एता ते अष्ट्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्” ॥^३

१ स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च । स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्ति रक्षति ॥ मनु. ९.७

२ ऋग्वेद, १०.८५.४६

३ यजुर्वेद, ८.४३

अर्थात् वहइडासबके द्वारा स्तवनीय है, रन्तारमण करने योग्य है, हव्या स्वीकार करने योग्य है, काम्या कामना करने योग्य है, चन्द्राआह्लादक गुण विशिष्ट, ज्योति प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूपा अदिति अखण्डनीय आत्मिक बल व अखण्डित धर्म-कर्म का पालन करने वाली सरस्वती ज्ञानसम्पन्न महि पूजनीय विश्रुति विस्तीर्ण यशवाली और अघ्न्याअर्थात् अहन्तव्या न मारने योग्य है। वेद में 'अघ्न्या' यह विशेषण केवल दो के लिए ही प्रयुक्त हुआ है-गौ अथवा नारी। दोनों ही राष्ट्र में, समाज में सबके लिए समान रूप से स्वभावतः ममतामयी परोपकारिणी प्रत्युपकार की, बिना अपेक्षा किए परोपकार में प्रवृत्त मानी गयी है। यहाँ पर ये सभी शब्द स्त्री के लिए सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यजुर्वेद के इस मन्त्र में इन सभी गुणों से युक्त स्त्री से प्रार्थना की गयी है कि तू देवेभ्यः इन सभी नामारूप दिव्यताओं की प्राप्ति के लिए हमें 'सुकृतं ब्रूतात्'सुकृत का, सत्कर्म का उपदेश कर। अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में भी कहा है-

“सूयवसाद् भगवती हि भूया अथा वयं भगवन्तः स्याम” ।।^४

अर्थात् ऐ नारी! तू भगवती भग से युक्त हो जा जिससे कि वयं भगवन्तः स्याम हम सब भगवान बन जाएँ। भग कहते हैं हर प्रकार के ऐश्वर्य को, धर्म को, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य को। इसीलिए कहा है कि हे नारी! तू समग्र ऐश्वर्ययुक्त, धर्माचारिणी, लक्ष्मीस्वरूपा, विदुषी, मोक्षगामिनी होकर भगवती बन जा, जिससे कि हम भी इन गुणों से युक्त हो सकें।

समाज में निर्माण का दायित्व भी माता के रूप में स्त्री का ही होता है, माता निर्माता होती है। निर्माता जिन गुणों से, भावों से युक्त होगा उसका प्रभाव निश्चित रूप से उसके द्वारा निर्मित वस्तु पर पड़ेगा, इसीलिए स्त्री जाति से ही ऐसी अपेक्षा की गयी है। श्रेष्ठ सन्तानोत्पत्ति करना एवं उनको राष्ट्रनिर्माण के योग्य बनाना स्त्रियों के ही आधीन है।ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में भी कहा है-

“ओ३म् अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति । अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नमस्कृधि” ।।^५

इस मन्त्र में अम्बितमे अर्थात् माताओं में जो सर्वश्रेष्ठ है, नदीतमे जो नदी के समान सतत प्रवाहमान, सहज, अव्यक्त ज्ञान-गुण, बलसम्पन्न है, देवितमे दिव्यस्वरूपा सरस्वती विदुषी स्त्री से प्रार्थना की गई है, हे अम्ब! हे मातः! अप्रशस्ता इव स्मसि अर्थात् हम अप्रशस्त के समान हैं, अतः प्रशस्तिं नः कृधि हमें प्रशंसनीय बना दो क्योंकि तुम्हीं इस योग्य हो। अतः स्त्रियों से अपेक्षा की गई है कि वे समाज में प्रदर्शनप्रिय, अहंकारयुक्त, उन्मुक्त न बनकर स्त्रियों के लिए जो उचित व्यवहार है, वैसी ही सौम्यता, शीलता आदि गुणों से युक्त होकर पूर्ण गरिमामय ढंग से रहें। “मा ते कश्लकौ दृशन्” अर्थात् तेरे गोपनीय आच्छादनीय अंग सर्वदा आच्छादित रहें। तू सबके लिए प्रदर्शन की वस्तु नहीं, अपितु हे स्त्री! तेरा स्थान सबसे ऊँचा है। आज जिस प्रकार स्त्रियाँ स्वयं को विज्ञापित कर रही हैं, वह अमर्यादित है,

४ अथर्व. ७.७३.११

५ ऋग्वेद, २.४१.१६

अवैदिक है, परमेश्वर की आज्ञा के प्रतिकूल है। वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति सर्वदा अभिनन्दनीय ही रही है, सभा समितियों में स्त्रियों की सहभागिता का वर्णन करते हुए मन्त्र है कि “अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद”^६ इसीलिए वेदोक्त नारी पुरुषों के समान ही शिक्षा प्राप्त करने की अधिकारिणी रही हैं। स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन करते हुए अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा है कि “ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्”^७ अर्थात् जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त करके विदुषी, अनुकूल, प्रिय स्त्रियों से विवाह करते हैं, वैसे ही कन्या ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण विद्या प्राप्त करके अपने सट्ट प्रिय, विद्वान पुरुष को प्राप्त होवे। यदि स्त्रियाँ वेदादि शास्त्रों को नहीं पढ़ी होंगी तो यज्ञ में सस्वर मन्त्रोच्चारण कैसे कर सकेंगी। यदि पुरुष विद्वान है तथा स्त्री अविदुषी हो अथवा स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान है तो नित्यप्रति घर में देवासुर संग्राम मचा रहेगा। राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद भी अच्छे से जानती थी क्योंकि यदि नहीं जानती होती तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में कैसे जाती।

वैदिक स्त्रियाँ साहस और वीरता से परिपूर्ण थी। वीरप्रसविनी वैदिक स्त्री पौलोमी शची की गर्वोक्ति प्रशंसनीय है, जब वह कहती है-

“मम पुत्रा शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। उताहमस्मिसंजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः”^८ अर्थात् मेरे पुत्र शत्रु का विनाश करने में समर्थ हैं। मैंने उन पुत्रों को जन्म दिया है, जो युद्ध में अपना बल, वीर्य और पराक्रम दिखलाकर शत्रुओं को पराजित करते हैं। मेरी पराक्रमशीला कन्या भी जिस घर की वधू बनेगी, उसे अपने ज्ञान, गुण तथा चारित्र्य से प्रकाशित कर देगी।

राष्ट्रोत्थान में सहायक तीन देवियों की चर्चा भी हमारे शास्त्रों में मिलती है। वैदिक शास्त्रों में अनेक स्थानों पर राष्ट्र तथा समाज को उन्नति दिलाने में सहायक तीन देवियाँ हैं- इडा, सरस्वती, मही। “इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः। बर्हिःसीदन्त्वास्त्रिधः”^९

यहाँ इडा को विद्या का प्रतीक, सरस्वती को वाणी का वाचक तथा मही को भूमि का सूचक माना है। कुछ व्याख्याकारों ने इन्हें क्रमशः संस्कृति, भाषा तथा मातृभूमि का प्रतीक भी माना है। प्रत्येक स्थिति में यह स्पष्ट है कि किसी भी समाज या राष्ट्र की उन्नति उस देश और समाज के नागरिकों की विद्या, सभ्यता, संस्कृति, स्वभाषा तथा स्वदेश के प्रति अनुराग पर टिकी रहती है। अतः राष्ट्र के उत्थान में इन तीनों देवियों को सहायक माना है।

६ अथर्ववेद, ७.३८.४

७ अथर्व. ३.२४.१८

८ ऋग्वेद, १०.१५९.३

९ ऋग्वेद, ५.५.८

इनके अलावा परमेश्वर को भी कई स्त्री देवताओं के नाम से आह्वान किया गया है, जैसे अदिति देवता। अखण्डनीया, अविभाज्य परमात्मा की दिव्य शक्ति को वेद में “अदिति” नाम से सम्बोधित किया गया है-

“अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वेदेवा अदितिः पञ्चअदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्” ॥^{१०}

अदितिसूचक इस मन्त्र में उस परमात्मा को द्यौ, अन्तरिक्ष, पिता, माता तथा पुत्र कहकर सम्बोधित किया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए अदिति को ईश्वर, जीव तथा प्रकृतिपरक करने की संस्तुति की है।

एक अन्य नाम सरस्वती देवता है। सरस्वती को परमात्मा का नाम सिद्ध करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा - “सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चित्तौ सा सरस्वती”^{११} अर्थात् जिसको विविध ज्ञान यथावत् हो, उस परमेश्वर का नाम सरस्वती है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सरस्वती देवता का वर्णन करने वाले तीन मन्त्रों की व्याख्या की है- “पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती यज्ञं वष्टु धिया वसुः”^{१२} यज्ञरूपी शुभकर्मों को प्रकाशित करने के लिए सरस्वती देवता से प्रार्थना की गई है। सद्बुद्धि वालों को सचेत करने वाली तथा सत्कर्म करने की प्रेरणा देने वाली तथा लोकहितकारी प्रशस्त यज्ञों का आधार सरस्वती देवी है “चोदयित्री सुनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् यज्ञं दधे सरस्वती”^{१३} तथा विज्ञान और विद्या का अगाध सागर सरस्वती हमारी बुद्धियों को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करे “महोऽअर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना धियो विश्वा वी राजति”^{१४} परमात्मा पुष्टि के विचारों से परे है। अतः अदिति, सरस्वती, देवी आदि स्त्रीलिंग शब्दों का परमात्मा के लिए प्रयोग दोषावह नहीं है।

परमात्मा का “पारमेश्वरी ज्ञानशक्ति” के रूप में आत्मकथन भी मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२५वाँ सूक्त वागाम्भृणी सूक्त में परमात्मा अपनी ज्ञानशक्ति की प्रतीक वाक् के रूप में स्वयं अपनी महिमा का वर्णन करते हैं। यह महामहिमाशालिनी देवी वाक् कहती है कि भौतिक शक्तियों, रूद्रों, वसुओं, अदितियों, अग्नि में ही विचरण करते हुए उनकी धारकशक्ति हूँ^{१५} तथा चन्द्रमा, सूर्य, वायु, यज्ञ आदि को भी मैं ही धारण करती हूँ^{१६} वाक् रूपी पारमेश्वरी शक्ति ही यज्ञरूपी श्रेष्ठ कर्मों की प्रेरणा देने वाली है।^{१७} यह देवीवाक् स्पष्ट घोषणा

१० ऋग्वेद, १.८९.१०

११ सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास

१२ ऋग्वेद, १.३.१०

१३ ऋग्वेद, १.३.११

१४ ऋग्वेद, १.३.१२

१५ “अहं रुद्रेभिर०” आदि ८ मन्त्र । ऋग्वेद, दशम मण्डल

१६ “अहं सोममाहनसम्०” ऋग्वेद, १०.१२५.२

करती है कि देवों तथा मनुष्यों पर, जिस पर भी मेरी कृपादृष्टि होती है, वह समय आने पर अपने पुरुषार्थ से परम बलशाली, ज्ञानयुक्त तथा सुमेधावान् बन जाता है- “यं कामये तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्” ॥^{१८} अतः समस्त वैदिक साहित्य स्त्रियों के सम्मान और समान अधिकार को सूचित करता है।

अगर हम वैदिक ऋषिकाओं की बात करें तो वैदिक ऋषियों की भाँति अपाला, घोषा, रोमशा, विश्ववारा सदृश अनेक वैदिक ऋषिकाओं ने वैदिक मन्त्रों का साक्षात्कार किया। अतः वेदों में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण, सम्मानित, विविधताओं से परिपूर्ण तथा आदर्श रूप में उपस्थापित किया गया है, किन्तु मध्यम समय में धीरे-धीरे कुछ वैचारिक परिवर्तन होने लगे। कतिपय अवेदज्ञ पंडितों ने स्त्रियों को वेदों के अध्ययन और यज्ञ से वंचित कर दिया तथा अपने ये विचार वेदानुमोदित ठहराने का प्रयास किया और कहा “अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिहिता”^{१९} अर्थात् स्त्री का स्थान यज्ञवेदी से बाहर है। जबकि याज्ञवल्क्य ने यह स्पष्ट घोषित किया कि बिना पत्नी के पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं है- “अयज्ञियो वैष योऽपत्नीकः” ॥^{२०} मध्ययुग में स्त्रियों के यज्ञ अधिकार के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार मिलते हैं। इस कारण वेद में इस सन्दर्भ में क्या स्थिति है, इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है, ऋग्वेद का एक मन्त्र -

“समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्घुषसम् उर्विया विभाति ।

एति प्राची विश्ववारा नभोभिर्देवाँ ईलाना हविषा घृताची” ॥^{२१}

इस मन्त्र की व्याख्या में “विश्ववारा” का अर्थ ‘सर्वमपि पापरूपं शत्रुं वारयित्री एतन्नामिका (काचित् नारी)’ करते हुए उसे प्राङ्मुख होकर अग्नि में आहुति देने के लिए पहुँचने का भाव मन्त्र के अर्थ में है। अनेकों मन्त्र यज्ञ में पत्नी द्वारा ही पढ़े जाते हैं। पत्नी यज्ञ में स्वाभाविक रूप से सहभागिनी होती है। वह वीरप्रसविनी, शौर्यवती एवं विजयिनी भावों से परिपूर्ण अन्नपूर्णा है, इसीलिए वेद में स्त्रियों को ‘ब्रह्मा’ की सर्वोच्च पदवी प्रदान करते हुए उद्धृत भी किया गया है- “स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ” ॥^{२२} अर्थात् तू ब्रह्मा है, सृष्टि का आधार है, तू चारों वेदों की ज्ञाता है, क्योंकि यह वेद का ज्ञान मैंने सम्पूर्ण प्राणिमात्र के लिए दिया है।

आज आवश्यकता है, पाश्चात्य संस्कृति से दिग्भ्रमित हुई स्त्रियाँ वेदभाष्यों को समझकर, अपने मूल से जुड़कर अपने स्वत्व की पहचान को स्थापित कर सकें।

१७ “अहं राष्ट्री संगमनी वसुनाम०” ऋग्वेद, १०.१२५.३

१८ ऋग्वेद, १.१२५.५

१९ शांखायन ब्राह्मण, २७.४

२० शांखायन ब्राह्मण, ३.३.३.१

२१ ऋग्वेद, ५.२८.१

२२ ऋग्वेद, ९.३३.१९

श्रीमद्भगवद्गीता में निहित कर्मयोग का आध्यात्मिक लक्ष्य

(पुरुषार्थबोधिनी टीका एवं शाङ्करभाष्य के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ० गजानन्द वानखेड़े

सहायकाचार्य, योग विज्ञान विभाग, हिमालयीय विश्वविद्यालय, देहरादून

नवीन प्रसाद नौटियाल

शोधच्छात्र, योग विज्ञान विभाग, हिमालयीय विश्वविद्यालय, देहरादून

हमारे शरीर का जो इन्द्रिय समूह (ज्ञान और कर्म) है, यदि वह संयमित है, तो कर्मयोग की साधना अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकती है। यदि रथी भी गड़बड़ और इन्द्रियाँ भी गड़बड़ तो सब कुछ व्यर्थ है। इसलिए साधक को सबसे पूर्व अपनी इन्द्रियों को साधना होगा। गुड़ खाने का परहेज बताने से पूर्व स्वयं गुड़ खाने पर नियन्त्रण करना होगा। कर्मों का वह विधान जो शास्त्र सम्मत है उसके करने से कर्मन्द्रियों का सन्धान होता है। जब कर्मों की साधना ठीक होगी तो उन कर्मों से ज्ञान की स्फुरण होगी; ज्ञान के उद्भूत होने से कर्मों में भी सुदृढ़ता आएगी क्योंकि जो कर्म ज्ञान शक्ति से प्रेरित होकर किये जाते हैं, वे ऊर्ध्व गति प्रदान करते हैं। केवल कर्म करते रहो, तैल्ली के बैल के समान कोल्ह के चक्कर काटते रहो, यह कोई कर्म नहीं है। कर्म भी मनुष्य किसी उद्देश्य के लिए करता है। पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) में यही रहस्य छिपा है।

‘कर्म’ शब्द ‘कृ’ धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है करना या व्यापार। कर्म के साथ योग जुड़ने पर उसका उद्देश्य ही बदल जाता है। अतः कर्मयोगी साधक या भक्त अथवा एक साधारण मनुष्य को भी यह देखना है कि उसके कर्म किस ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। चोरी करना, डाके मारना, झूठ बोलना, चोर या डाकू अपना कर्तव्य कर्म समझता है, किन्तु ऐसे कर्म का विधान कर्तव्य शास्त्र में नहीं है। अतः जो कर्म मनुष्य को अधोगति की ओर ले जाते हैं, उनका न करना ही शास्त्र सम्मत है। “आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्” अर्थात् जो आत्मानुकूल नहीं उसका प्रयोग परहित में भी नहीं करना चाहिए। अतः सिद्ध होता है कि जो कर्म आत्मोत्थान में, आत्मोन्नति में या आत्म-कल्याण में सहायक हो, उनको ही कर्तव्य कर्म मानना चाहिये। मनुष्य क्योंकि बिना कर्म किये क्षणभर भी नहीं ठहर सकता।^१ इसलिए उसकी इस प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर उसके लिए कर्म विधान किया है। कर्म गति तो बड़ी विलक्षण है। जो करोगे सो भरोगे, किन्तु इस करने-भरने में दिल-दिमाग पर जो प्रभाव पड़ता है, उसको कैसे दूर करें। दिल और दिमाग एक रस रहें, सम रहें,^२ इसके लिए गीता में कहा कि ‘सम रहो’ किन्तु कर्मों से पिण्ड छुड़ाना अति कठिन है, उनकी आसक्ति से बचना भी कठिन है। इसके लिए

१ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - ०३.०५

२ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - ०२.४८

भगवान् कहते हैं- बुद्धिमानी से काम करो, चातुरी से कार्य करो। यह कौशल या बुद्धिमानी है क्या? यह- 'योगः कर्मसु कौशलम्' भी अनासक्ति या समता या दिल-दिमाग का सन्तुलन है। इसलिए कर्मों को करता हुआ भी ऐसी बुद्धिमत्ता का सम्पादन करे, ऐसे कौशल को प्राप्त करें, जिससे सिद्धि-असिद्धि में सदा अचिन्तित रहे। क्योंकि बिना ऐसी बुद्धिमत्ता या कौशल के सुकृत-दुष्कृत या भले-बुरे कर्मों तथा उनके फलों से छुटकारा नहीं हो सकता^३ क्योंकि कृष्ण के अनुसार- 'फल की वासना वाले अत्यन्त दीन होते हैं।'^४

कर्मयोगी के लिए गीता में कहा कि- "जब मनुष्य स्वार्थरहित कार्य करते-करते कामनाओं रहित हो जाता है और उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, ऐसे पुरुष को कर्मयोगी या स्थित प्रज्ञ कहा जाता है।"^५ इसलिए अलिप्त होकर निरन्तर कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिए, इसी से मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति करता है।^६ आगे कहा कि लिप्त कौन नहीं होता है? जिसने आत्म शुद्धि कर ली है, जिसने आत्मनियन्त्रण करके इन्द्रियों पर भी काबू कर लिया है, जिसने अपने को सबके साथ तन्मय कर लिया। वह कर्म करते हुए भी उससे लिप्त नहीं होता।^७ आगे तो यहाँ तक कहा गया कि- सब कर्मों को ब्रह्म के अर्पण कर और उनमें आसक्ति न रखकर जो कर्म करता है वह वैसे ही पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे कि पानी में रहने पर भी कमल के पत्र उसमें गीले नहीं होते।^८ इस प्रकार कर्मों के भोगों में अनासक्त रहना, कर्म फल की इच्छा न करना साधक के जीवन को उत्तरोत्तर 'ब्रह्मोदन' बना देता है।

उपनिषद् में इस भाव को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है - सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखते हुए भी जो कर्म करता रहता है, उसमें अन्यथा बुद्धि, नास्तिक वृत्ति अथवा निराशा की भावना पैदा नहीं होती, वह कर्मों में लिप्त भी नहीं होता।^९ बस यही तो कर्म दर्शन है, कर्मयोग है, उसकी साधना है। गीता के सारभूत कथन का आशय भी यही है कि- तू केवल कर्म करने का ही अधिकारी है, उन कर्मों के फलों का अधिकारी कदापि नहीं, तू कर्मफलों का कारण मत बन और कर्म न करने का भी आग्रह मत कर^{१०} और कर्मयोग की पराकाष्ठा का दिग्दर्शन तब होता है जब कृष्ण कहते हैं - जो कुछ भी तू करता है, खाता है, हवन करता है, देता है तथा तप

३ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टिका - ०२.५०

४ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टिका - ०२.४९

५ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टिका - ०२.८९

६ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टिका - ०३.१९

७ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टिका - ०५.०७

८ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टिका - ०५.१०

९ ईशावास्योपनिषद् - ०२

१० श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टिका - ०२.४७

करता है वह सब मुझको अर्पण कर। इसीलिए कर्म साधक कहता है, यह मेरा नहीं है, यह परमेश्वर का है।^{११} यह निर्लिप्त होकर भोग-भोगने की धर्म- कर्म मर्यादा।

ईशोपनिषद् में इस जीव को ऋतु कहा, अर्थात् कर्म करने वाला, 'त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्' में इसे 'कर्मी' कहा है; अर्थात् कर्म करने वाला। इसी प्रकार गीता में भी इसे बिना कर्म किये बिना न रहने वाला, प्रकृति से ही पैदा हुए गुणों (सत्, रज, तम) से प्रेरित होकर कर्म करने वाला कहा है।^{१२} निश्चित आसक्ति से रहित, राग और द्वेष के बिना फल की इच्छा न करने वाले से किया गया जो कर्म है, वह सत्वगुणी कहा जाता है;^{१३} किन्तु जो कर्म फल की कामना से, अथवा अहंकार से, बड़े परिश्रम से किया जाता है, वह रजोगुणी कहा गया है।^{१४} परिणाम, विनाश, हिंसा और बल को न देखकर मोह से जो कर्म आरम्भ किया जाता है, वह तमोगुणी कहा जाता है।^{१५} इसी प्रकार कर्म के साथ-साथ कर्ता के भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार बताये गए हैं।^{१६} इस प्रकार यह मनुष्य प्रकृति के इन तीन गुणों से प्रेरित हुआ मानो यन्त्रारूढ हो कार्य करता रहता है। इसलिए इन गुणों की प्रवृत्ति को दैवी सम्पद् में बदल कर ही मनुष्य श्रेष्ठ पथ की ओर प्रवृत्त हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है कि- कर्मन्द्रियों को तो रोक कर बैठ गए किन्तु मन से उन सब विषयों का चिन्तन करते रहे तो यह क्या है? यह है मिथ्याचार।^{१७} यह है मानसिक भोग। अतः कर्मयोगी को मनसा-वाचा-कर्मणा सभी प्रकार के विकारों से दूर रहकर कर्मसिद्धि करनी है। ऊपर जो 'रथी' की बात कही गई है तो वह रथी मन ही तो है। इस मन को वश में करने पर ही ये इन्द्रियाँ वश में होगी, तब ही कर्मयोग की सिद्धि हो सकेगी, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है।^{१८}

गीता हो, उपनिषद् हो, चाहे पुराण हो, वेद हो, योगशास्त्र हो, सभी में 'चित्त' या 'मन' को वश में करने की बात कही गयी है।^{१९} इसलिए गीता भी कहती है, जो मन से इन्द्रियों को संयत रखकर अनासक्त बुद्धि से कर्मन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आरम्भ करता है, वह श्रेष्ठ है।^{२०} इसलिए मनुष्य यदि कर्म करता रहेगा और वह भी श्रेष्ठ कर्म तो उसका जीवन ऊँचाईयों को प्राप्त करता जाएगा, उसका कर्मयोग सिद्ध होता जाएगा। क्योंकि कर्तव्य

११ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - ०८.२७

१२ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - ०३.०५

१३ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - १८.२३

१४ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - १८.२४

१५ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - १८.२५

१६ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - १८.२६, २७, २८

१७ श्रीमद्भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी टीका - ०३.०६

१८ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०४.१७

१९ पातञ्जलयोगदर्शन - ०१.०२

२० श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०३.०७

कर्मों का करना व कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है, क्योंकि कर्म न करने से संसार में मनुष्य का निर्वहन भी नहीं हो सकता^{२१} अर्थात् बिना कर्म किये संसार के कार्य-व्यापार भी नहीं चल सकते, इसलिए कर्म करना श्रेष्ठ उपाय या साधन है। उसमें कर्मनिष्ठा का होना भी परमावश्यक है।

प्रश्न उठता है कि कैसे कर्म करें, जिससे यह जीव कर्म बन्धनों की जंजीरों को तोड़ कर प्रभु के पथ का पथिक बन सके। योगदर्शन में कहा कि जो कर्म सुख जनक हैं, वे पुण्य (अच्छे) और जो परिताप (दुःख) जनक हैं, वे अपुण्य बुरे कहलाते हैं।^{२२} गीता कहती है, यज्ञमय कर्म करें तथा शास्त्र विहित कर्म करें।^{२३} उपनिषद् भी कहती है यज्ञमय या त्यागमय कर्म कर, क्योंकि यह सब उस परमेश्वर का ही है।^{२४} यह त्यागवृत्ति कर्मों में सुगंध पैदा कर देती है। जब यज्ञ भावना से मनुष्य कर्म करता है अर्थात् निष्काम भाव से परोपकारार्थ अपना जीवन समर्पित करता है तो कर्म, बन्धन का हेतु नहीं बनते। किन्तु जो सकाम कर्म करते हैं वे महान् अंधकार युक्त पाप के गड्ढे में गिरते हैं।^{२५} गीता भी कहती है- जो निष्काम भाव से काम करते हैं वे ही योगी है और संन्यासी हैं। जो अक्रिया और यज्ञ नहीं करते वे ही संन्यासी और योगी नहीं है।^{२६} अतः भोगवादी के तो कर्म क्षीण हो जाते हैं। वह अकेला खाने वाला पाप का भोग करता है।^{२७} उसके कर्म उसे भोगवादी बनाकर फिर संसार के जंजाल में (जन्म-मरण) के चक्र में डाल देते हैं। यही सकाम योग है।^{२८} इसलिए सकाम का आज नहीं तो कल मिलेगा फल। किन्तु त्यागी का सब ओर यश फैलता है। उसकी त्याग भावना कर्मों में उत्कृष्टता पैदा कर देती है। यह त्याग या यज्ञ भावना कर्म साधना उसकी है। कर्मयोगी जब इस यज्ञ भावना से काम करता है तो उसका मन, इन्द्रियाँ सब उसके कहने में चलती हैं। वह अपना आत्मोत्थान करता है। वह राजा जनकादि के समान लोक संग्रह पर दृष्टि रखकर कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त करता है। इस कर्म और अकर्म की गति इतनी विचित्र है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी यहाँ मोहित हो जाते हैं।^{२९}

वस्तुतः जितने भी योग हैं वे सब आत्मोत्थान के ही साधन कहे गए हैं। जिसका आत्मोत्थान हो गया, आत्मा पर से अज्ञानावरण हट गया तो विवेक प्राप्त होकर उसे परमात्मा का पथ मिल गया क्योंकि मनुष्य के जो

२१ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०३.०८

२२ पातञ्जलयोगदर्शन - ०२.१४

२३ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०३.०९, १६.२४

२४ ईशावास्योपनिषद् - ०१

२५ ईशावास्योपनिषद् - ०९

२६ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०६.०१ की व्याख्या

२७ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०३.१३

२८ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०३.२५

२९ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०३.२०

अशास्त्रीय या निन्दित कर्म है वे ही उसको विमूढात्मा, अज्ञानात्मा बनाते हैं इसलिये जिसकी मूढ, विक्षिप्तादि अवस्थायें अच्छे कर्मों से नष्ट हो गयी तो उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होने पर वह मिल गया जो कर्मयोगी को प्राप्तव्य हैं।

यदि कर्मों का आशय सबीज नष्ट हो जाता है अर्थात् मनुष्य का मन में वे गन्दी कर्म प्रवृत्तियाँ आती ही नहीं हैं, सदा के लिए जल जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं, तो जब खोटे कर्मों का बीज ही जल गया तो फिर उत्पत्ति कहाँ से हो, इसलिए कर्मों से जब सुख-दुःख की प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जायेगी, कर्मयोगी की ज्ञान दृष्टि 'समकाष्ठकञ्चनवत्' हो जाएगी तो जो क्लेश, कर्म, विपाक आदि से अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है^{३०} और ज्ञान का बीज है।^{३१} गीता के अनुसार पुरुषोत्तम है।^{३२} उसे प्राप्त कर मनुष्य परमतत्व को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष सुख लाभ करता है। कर्मयोग का लक्ष्य भी तो परमानन्द की अनुभूति करना ही है।

इस अनुभूति का भागी बनने के लिए, व्यक्तिगत जीवन को मृत्युभय से उन्नत करना ही मनुष्य का चरम कर्तव्य है। व्यष्टि को समष्टि में मिला देना ही योग है। जो इस संसार में रहता हुआ भी समाज सेवा के साथ अपने व्यक्तित्व को स्थिर रखता है, वह शान्ति प्राप्त कर लेता है। कामनाओं में लिपटा हुआ प्राणी नहीं।^{३३}

इसलिए कहा कि - “हे ऋतु! हे साधक इस संसार के बाह्याडम्बरों में मत फंस ये सोने के पात्र (भोग पदार्थ) विष से भरे हैं।”^{३४} सत्यान्वेषी बन, अमृत को प्राप्त करने की लालसा कर, किन्तु साधक या ऋतु उस कल्याण प्रद मार्ग को कैसे प्राप्त करेगा, इसके लिए कहा कि- “अपनी सब इन्द्रियों को, शक्तियों को केन्द्रित कर, जब ये केन्द्रित (ध्यानावस्थित) होगी तब उसका सही आकलन होगा क्योंकि ये इन्द्रियाँ हठात् मन को अपनी ओर खींच लेती हैं। गीता में इसीलिए कर्म साधना में ध्यान, अभ्यास, मन पर नियन्त्रण, इन्द्रियों के व्यापारों को अन्तर्मुखी करना, अर्थात् विषयों से हटाकर केन्द्रित करना आदि का वर्णन भगवान् कृष्ण ने यत्र-तत्र किया है। तो कर्मयोगी को अपने कर्तव्य कर्मों को करते हुए यह सदा याद रखना चाहिए कि वे कर्म आत्मोत्थान में ही सहायक हो। कृष्ण कहते हैं - “योगी जन आसक्ति रहित होकर शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा भी केवल आत्म शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।”^{३५}

३० पातञ्जलयोगदर्शन - ०१.२४

३१ पातञ्जलयोगदर्शन - ०१.२५

३२ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - १५.१८, १९

३३ श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य - ०२.७०

३४ ईशावास्योपनिषद् - १५

३५ श्रीमद्भगवद्गीता रामानुज भाष्य - ०५.११ की व्याख्या

सारांशतः महाराज कृष्ण का कथन है कि- “अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।”^{३६} वह सिद्धि को कैसे प्राप्त हो जाता है? वह कौन सी विधि है। महाराज कहते हैं- “मनुष्य को अपने प्रत्येक कर्तव्य कर्म का पालन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सम्पूर्ण चराचर प्राणियों के सहित यह समस्त विश्व भगवान् से ही उत्पन्न हुआ और भगवान् से ही व्याप्त है और जो भी उसने यहाँ दिया है वह भी उसी का है (सर्वमिदं तत)। अतः मनुष्य को चाहे वह किसी वर्ण या आश्रम का हो अपने कर्मों से भगवान् का भजन-पूजन करके परम सिद्धि रूप परमात्मा को प्राप्त करना है क्योंकि परमात्मा को प्राप्त करने में सबका समान अधिकार है। अतएव कर्म बन्धन से छूटकर परमात्मा को प्राप्त करने का यह सुगम मार्ग है^{३७} और इस प्रकार अपने स्वभाविक कर्मों में टिका हुआ मनुष्य निष्काम कर्म करता हुआ, प्रभु के आश्रयभूत होकर कर्म सम्पादन करे तो वह कर्मों में सफलता प्राप्त कर कर्मयोगी हो जाता है।

३६ श्रीमद्भगवद्गीता रामानुज भाष्य - १८.१५

३७ श्रीमद्भगवद्गीता रामानुज भाष्य - १८.४६

कर्म-स्वातन्त्र्य और कर्म-पारतन्त्र्य : एक विश्लेषण

डॉ० शालिनी शर्मा

असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), संस्कृत-विभाग, कन्या परिसर हरिद्वार, गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

कर्मविज्ञान रूपी पहली को सुलझाने के लिए दार्शनिकों ने, मनीषियों ने गम्भीरता से विचार किया है। आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है या नहीं? क्या वह मात्र अपनी इच्छा से ही सभी कार्य कर सकता है? ये बड़े गहन प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना जटिल है। यह मान्य बात है कि यह सृष्टिचक्र अनादि है, क्योंकि इस संसार का निर्धारण करने वाली तीन सत्तायें ईश्वर, जीव, प्रकृति अनादि हैं तो इनके द्वारा किये गये कर्म भी अनादि होंगे। कर्मों में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। मनुष्य कर्म करने अथवा न करने में बहुधा स्वतंत्र भी है और परतन्त्र भी है। अष्टाध्यायी में पाणिनि मुनि ने भी कहा है - स्वतन्त्रः कर्त्ता^१ अर्थात् मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। अच्छे या बुरे सभी प्रकार के कर्म मनुष्य कर सकता है। वह चाहे तो अग्नि को उपयोग में लेवे अथवा उसमें हाथ डाले, जैसा करेगा वैसा फल उसे भोगना पड़ेगा। परमेश्वर कर्म करते हुए किसी मनुष्य को हाथ पकड़कर किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं करता है। यह कर्म स्वातन्त्र्य ही परमेश्वर का सर्वोत्तम वरदान है। मनुष्य को कर्म करने से रोकने में सामान्यतः परमेश्वर की ओर से कोई बाधा नहीं होती। जो लूला हो, लंगड़ा हो, अंधा हो वह किन्हीं कर्मों का फल है, यह परमेश्वर द्वारा दिया गया दण्ड है। ये शारीरिक अक्षमताएं मनुष्यों को बाँध देती हैं। इसके साथ ही कर्म स्वातन्त्र्य के लिये मनुष्य में इच्छा की स्वतन्त्रता होना आवश्यक है क्योंकि इच्छारहित होकर मनुष्य कोई कर्म नहीं कर सकता।

प्रत्येक कर्म के लिये पहले इच्छा होती है फिर मनुष्य कर्म करता है। इसी को इच्छा-स्वातन्त्र्य कहा गया है। उपनिषद् व वेदादि ग्रन्थों में सर्वत्र मनुष्य को इच्छापूर्वक कर्म करने में स्वतन्त्र व फल भोगने में परतन्त्र कहा है। अनेक मन्त्रों में मनुष्य को पुरुषार्थ करने की शिक्षा दी गयी है। जैसे - हे मनुष्य! द्यूतक्रीड़ा आदि में प्रवृत्त न हो। खेती कर, उसी से अपना गृहस्थ जीवन यापन कर तथा अन्नादि को प्राप्त कर, अवनति को प्राप्त मत कर, मृत्यु के बन्धन से पृथक् हो, कुमार्ग पर कभी मत चल, यह बड़ा भयानक पथ है।^२ हे पुरुष! तू उस मार्ग पर चल जिस पर मैं कहता हूँ। उस पथ पर चल वह पथ धर्म पथ है।^३ कुपथ में तेरे लिये भय व धर्म पथ में तेरे लिये अभय है।^४ इन पर चिन्तन करने से ज्ञात होता है कि परमेश्वर ने सर्वत्र सत्कर्म करने का निर्देश दिया है। यह निर्देश तभी दिया जा सकता है जब कि कोई मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र हो। स्वतंत्र को ही विधि-निषेध की प्रेरणा दी जा

१ अष्टाध्यायी १.४.५४

२ आक्षेपार्थं दीव्यः कृषिमित्कृष्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। ऋग्वेद १०.३४.१३

३ उत्क्रामातः पुरुषमावपत्था मृत्योः पङ्क्तिशमवमुंचानः। अथर्ववेद ८.१.४

४ मैतं पन्थामनुगा भीम एष येन पूर्व नेयथ तं ब्रवीमि। तम् एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्।। अथर्ववेद ८.१.१०

सकती है, परतन्त्र को तो केवल मात्र आदेश ही दिये जा सकते हैं। अतः वेद कर्म-स्वातन्त्र्य की शिक्षा देते हैं। पूर्वमीमांसा के कर्ता जैमिनि भी कर्ता के कर्म-स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करते हैं।

कर्म करने में पुरुष का कर्तापन, कर्म में स्वतन्त्रता, वेद में भी ऐसा ही पाया जाना आदि कारण पुरुष की स्वतन्त्रता सिद्ध करते हैं।^५

कभी-कभी भाग्य को आधार बनाकर परतन्त्रतावाद सिद्ध किया जाता है। इसके अनुसार जिसके भाग्य में जैसा लिखा होता है उसके साथ वैसा ही घटता है, मनुष्य के साथ किस समय कैसा होना है यह सब पूर्व निर्धारित है। अपने मतानुसार वे महाभारत के इस श्लोक को रखते हैं जिसमें दुर्योधन कहता है - मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु उसके अनुसार चल नहीं सकता। मैं अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु उससे दूर नहीं हो सकता। मेरे हृदय में कोई देवता बैठा हुआ है, वह जैसी प्रेरणा करता है वैसा ही मैं करता हूँ।^६ इसी प्रकार गीता में अर्जुन ने कहा 'अनिच्छन् अपि वाष्णेय बलादिव नियोजितः'^७ किसकी प्रेरणा से पाप करता है। 'अनिच्छन् अपनी इच्छा न रहने पर भी मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप करता है।

वास्तव में इस प्रकार के वाक्य स्वयं के ऊपर से उत्तरदायित्व को हटाते हैं। चाहे हम किसी भी प्रकार की बुराई करते रहें, उन सबका उत्तरदायित्व परमेश्वर पर है। ऐसे वाक्य गलती करते रहने पर भी स्वयं को उचित ठहराने के लिए किये जाते हैं। परतन्त्रवाद को सही ठहराने के लिए ईश्वर के गुण त्रिकालज्ञता का भी सहारा लिया जाता है। अर्थात् ईश्वर त्रिकालज्ञ है, वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों की बातें जानता है। वह मनुष्य के भूत में होने वाले कार्यों, वर्तमान में होने वाले कार्यों तथा भविष्य में होने वाले सभी कार्यों को जानता है। इस कारण मनुष्य कर्म अपनी इच्छा से नहीं अपितु पूर्वनियोजित कर्मों के आधार पर करता है।

इस विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ दी हैं जिसके आधार पर हम अपना निर्णय बना सकते हैं।

प्रो० राईस के अनुसार ईश्वर मात्र उन्हीं बातों का भविष्य ज्ञान रखता है जो कि साधारण हैं या जिनका कार्यकारणभाव निश्चित है। जो कार्य मनुष्य द्वारा स्वतन्त्रता से किये जाते हैं उनका पूर्व ज्ञान न तो मनुष्य को हो सकता है न ईश्वर को हो सकता है।^८

मिस्टर टेनिसन मानते हैं कि मनुष्य का इच्छा स्वातन्त्र्य एक अलौकिक घटना है। इस प्रकार ईश्वर ने स्वयं की सर्वज्ञता को नियन्त्रित किया है। यह एक उसकी सत्ता का चमत्कार है।^९

५ प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात्। पूर्वमीमांसा ६.२.३

६ जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि। महाभारत

७ गीता ३-३६

८ Cpf. Lecture by Bradley, II P ४४

९ In Memorium (Robinson's Edition) P २६०

जोवेट का मानना है कि ईश्वर यद्यपि सभी सामर्थ्य रखता है परन्तु इसमें वह प्राणियों के कर्म स्वातन्त्र्य में बाधा उपस्थित नहीं करता।^{१०}

ऋषि दयानन्द के विचार ईश्वर की त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में इस प्रकार के हैं-

प्रश्न - परमेश्वर त्रिकालदर्शी है अतः भविष्य की बातें जानता है, वह जैसा निश्चय करेगा जीव वैसा ही करेगा। अतः जीव स्वतन्त्र नहीं।

उत्तर- ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे वह भविष्यकाल होता है। क्या ईश्वर का कोई ज्ञान होके नहीं रहता अथवा न होके होता है? कदापि नहीं। ईश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित रहता है। अतः भूत-भविष्य जीवों के लिए है। जीव के कर्मों के कारण ईश्वर को त्रिकालज्ञ कहा जा सकता है। अर्थात् जैसी स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसी ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है।^{११} इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य किसी भी कर्म को करने से पहले मन में विचार करता है फिर कर्म करता है। अतः जब तक मनुष्य विचारता नहीं तब तक परमेश्वर भी नहीं जानता कि मनुष्य क्या करेगा और जैसे ही मनुष्य कार्य का संकल्प बनाता है जैसे ही परमात्मा भी जान लेता है। अतः ईश्वर को मनुष्य के कर्म का ज्ञान व जीव का कर्माचरण साथ-साथ ही घटते हैं।

जीव की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अन्यत्र महर्षि दयानन्द कहते हैं कि जीव अपने कर्तव्य-कर्मों को करने में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। स्वतन्त्र शब्द की परिभाषा देते हुए कहा "जिसके अधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों।"^{१२} इस परिभाषा के अनुसार जीव के पास शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि हैं अतः जीव स्वतन्त्र है। आगे कहा कि जीव स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप, पुण्य का फल कभी प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जब किसी की परतन्त्रता से कर्म किये जाते हैं तो उसका फल स्वामी भोगता है, सेवक नहीं। युद्ध में अनेक शत्रुओं का संहार करने पर भी सैनिक अपराधी नहीं माना जाता क्योंकि वह वहाँ परतन्त्रता से कर्म कर रहा होता है। अतः जीव स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करने के कारण ही पाप-पुण्य के फल भोगता है। यदि जीव परतन्त्र होता तो वह फल भी नहीं भोगता।

यज्ञार्थ कर्म का रहस्य

'यज्ञ' शब्द का अर्थ करते हुए शतपथ ब्राह्मण की भूमिका में पं० बुद्धदेव विद्यालंकार लिखते हैं कि 'कल्याणार्थिना सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायांगतया क्रियमाणङ्कर्म यज्ञः'।^{१३} अर्थात् कोई कल्याणार्थी अपने आपको समुदाय का अंश मानकर जिस समुदाय का वह अंग हो उसके सामुदायिक योगक्षेम-सिद्धि के लिये कर्म

^{१०} कर्म-रहस्य, महात्मा नारायण स्वामी, पृ. ६३

^{११} सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास

^{१२} तदेव

^{१३} शतपथ ब्राह्मण भाष्य, भूमिका पृ. ५ (भा. बुद्धदेव विद्यालंकार)

करता है वह यज्ञ है। शतपथ ब्राह्मण की यह परिभाषा- 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमङ्गकर्म'^{१४} श्रेष्ठकर्म व यज्ञ को परस्पर सम्बन्धित करते हैं। जितने भी श्रेष्ठतम कर्म हैं वे सब यज्ञ हैं। यज्ञ नाम ही श्रेष्ठकर्मी का है। अतएव स्वार्थ के लिये किये जाने वाले कर्मों को आसुर-कर्म तथा समाज कल्याण के निमित्त किये जाने वाले कर्मों को देव-कर्म कहा गया। जहाँ असुर स्वयं के मुख में ही डालकर खाना पसन्द करते हैं वहीं देव एक दूसरे को खिलाकर खाना उचित समझते हैं।

यज्ञ शब्द के तीन अर्थ पाणिनि मुनि ने धातुपाठ में दिये हैं देवपूजा, संगतिकरण व दान।^{१५} यहाँ ये तीनों ही अर्थ व्यावहारिक हैं। देवताओं की पूजा, समाज में श्रेष्ठ मनुष्यों की संगति करना और दान करना। ये अर्थ कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। यज्ञ द्वारा किस प्रकार श्रेष्ठ समाज का निर्माण हो सकता है इसे बतलाते हैं। तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद) में उल्लेख आया है कि 'द्विज जन्म लेते ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण इन तीन ऋणों से युक्त हो जाता है अतः ब्रह्मचर्य द्वारा ऋषिऋण से, यज्ञ द्वारा देवऋण से और सन्तति द्वारा पितृऋण से मुक्त होता है।'^{१६} मुख्य रूप से यज्ञ शब्द अग्नि में किये जाने वाले कर्मों से सम्बन्धित है। अग्नि को देवों का मुख कहा गया है।^{१७} मत्स्यपुराण में यज्ञ का प्रसंग आया कि- जिस कर्म-विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा इन पाँचों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं।^{१८}

कई आचार्य वेदों की प्रवृत्ति भी मात्र यज्ञार्थ मानते हैं। मध्यकालीन आचार्य सायण का कथन है 'यज्ञार्था वेदाः प्रवृत्ता'^{१९} यही दर्शाता है। यहाँ यज्ञ से मात्र कर्मकाण्ड का ही ग्रहण किया गया है। मध्यकाल में यज्ञ जैसे पवित्र कर्म को अत्यन्त विकृत अवस्था में पहुंचा दिया गया। आसुरी प्रकृति वाले पुरुषों ने यज्ञ में मांसादि का विधान बतला दिया तथा स्वयं ही मनु आदि ऋषियों के नाम से श्लोक रचकर पशुहिंसा तथा यज्ञशेष के रूप में मांसभक्षण को मीमांसकों के मत में विधिसम्मत घोषित कर दिया।^{२०} जबकि मीमांसाशास्त्र में 'अपि वा दानमात्रं स्यात् भक्षशब्दानभि सम्बन्धात्'^{२१} इत्यादि सूत्रों में यज्ञ में पशुओं के दान मात्र का विधान है, हिंसा का नहीं।

भगवत् गीता में अनेकत्र यज्ञ व कर्म का परस्पर तारतम्य दर्शाया है। तद्यथा, यज्ञ के लिए जो कर्म किये जाते हैं उनके अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक बँधा हुआ है। अतः यज्ञार्थ कर्म भी तू आसक्ति को छोड़कर

१४ शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १, अध्याय ७, ब्राह्मण १, काण्डिका ५

१५ धातुपाठ १.७२८

१६ तैत्तिरीय संहिता, ६.३.१०.१३

१७ अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्, काठक सं. ४.११४

१८ देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा । ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ।। मत्स्यपुराण १४४.४४

१९ आर्चज्योतिष श्लोक ३६

२० मीमांसादर्शन, भूमिका, पृ.४

२१ तदेव १०.७.१५

करता जा।^{२२} लोकमान्य बालगंगाधर तिलक 'गीतारहस्य' में इस श्लोक के भाष्य में लिखते हैं कि इसके पहले चरण में मीमांसकों का और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बतलाया गया है। मीमांसकों के अनुसार वेदों की आज्ञा है कि 'यज्ञ' करने चाहिए, इसलिये यज्ञार्थ जो कर्म किये जाएंगे वे सब ईश्वर सम्मत होंगे अतः उन कर्मों से कर्त्ता बद्ध नहीं हो सकता। परन्तु यज्ञों के अतिरिक्त अन्य कर्मों से जैसे स्वयं को उदरपूर्त्यर्थ जो कर्म होंगे वे कर्म यज्ञार्थ नहीं होंगे, उससे केवल स्वार्थसिद्धि होगी परार्थ नहीं। अतः मीमांसकों के इस सिद्धान्त यज्ञार्थ कर्म करने चाहिए, क्योंकि वे बंधक नहीं होते में ही भगवद्गीता ने यह सुधार कर दिया है कि जो कर्म यज्ञार्थ किये जावें, उन्हें भी फलाशा छोड़कर करना चाहिए।^{२३} यज्ञ कर्म, मात्र जौ तिल सामग्री को अग्नि में डाल देने से ही सिद्ध नहीं हो जाता। समाज का भलीभांति धारण-पोषण करने के लिए इन यज्ञकर्मों को निरन्तर चलाये रखना चाहिये। अतएव गीता में कहा- प्राणिमात्र की उत्पत्ति अन्न से होती है, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है व पर्जन्य की उत्पत्ति यज्ञ से होती है और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।^{२४}

प्रायः यज्ञ शब्द से अग्निहोत्र का ग्रहण किया जाता है। इस अग्निहोत्र कर्म से जल-वायु की शुद्धि होकर संसार का महान कल्याण होता है। अतः यह भी एक कर्म है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती अतः मनु ने यज्ञ कर्म आवश्यक बताया तथा अग्निहोत्र के लाभों का वर्णन किया।^{२५}

यज्ञ जैसे सात्विक कार्य के लिए ही कहा - 'स्वर्गकामो यजेत् परन्तु स्वर्ग कोई स्थान विशेष नहीं है, मीमांसा के भाष्यकार शबर स्वामी कहते हैं, "ननु स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो न तु अनुमानात् गम्यते"।^{२६} स्वर्ग प्रेम को कहा जाता है। जहां प्रीति है वहीं स्वर्ग है।

नैष्कर्म सिद्धान्त की व्याख्या

भगवद्गीता में नैष्कर्म्य पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। नैष्कर्म क्या है? इस सम्बन्ध में गीता में कहा गया है- कर्मों को न करना नैष्कर्म्य नहीं है। कर्मों के त्याग अथवा कर्मों को आरम्भ न करना नैष्कर्म्य सिद्धि नहीं है।^{२७} क्योंकि सर्वथा कर्मों का त्याग कभी नहीं किया जा सकता, कर्मों को प्रारम्भ किये बिना कोई जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। कर्म है तो जीवन है, जीवन है तो कर्म है। दोनों का परस्पर तारतम्य है। कर्म जीवन का अंग है। कर्मों से ही जीवन की पूर्णता है। क्योंकि कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों ने मनुष्य को कर्मों के बन्धन में बाँधा हुआ है।^{२८} प्रकृति मनुष्य को सदैव कुछ न कुछ कर्म करने के लिए प्रेरित करती रहती है।

२२ गीता ३.९

२३ कर्मयोगशास्त्र, पृ. ६५८-६५९

२४ अन्नाद् भवन्ति भूतानि..... यज्ञः कर्मसमुद्भवः। गीता ३.१४

२५ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। मनु. ३.७६

२६ मीमांसा, शाबरभाष्य ६.१.१

२७ न कर्मणामनारम्भात्प्रैषकर्म्यं पुरुषोऽश्रुते । न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। गीता ३.४

२८ न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। गीता ३.५

प्रकृति के गुण सत्व, रज, तम जीवात्मा को सदैव कर्म की ओर प्रेरित करते हैं। मनुष्य का एक क्षण भी तो कर्म किये बिना नहीं जाता, सोना, जागना, चलना, उठना, बैठना, बोलना, हँसना, पलकें झपकाना आदि सभी कर्म के भीतर ही आते हैं। क्या इन कर्मों से कोई बच सकता है? अतः नैष्कर्म्य का अर्थ कर्म की रहितता करना ठीक नहीं। नैष्कर्म्य कर्मों की शुन्यता को नहीं कहा जा सकता। कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे वह कर्मों से सर्वथा छूट नहीं सकता। कर्मों के त्याग को नैष्कर्म्य की सिद्धि नहीं कहा जा सकता। नित्य व नैमित्तिक कर्म तो सदैव करने ही होंगे। नित्य से तात्पर्य - वह कर्म जो नित्य किये जाते हैं, जैसे स्नान, ध्यान, सन्ध्या, हवन, शरीर स्वच्छता आदि तथा नैमित्तिक कर्म वह जो किसी के निमित्त से किये जाते हैं। अतः यह सिद्ध हो गया कि कर्मों से छूटा नहीं जा सकता। लेकिन कर्मों के बंधकत्व से अवश्य छूटा जा सकता है। कर्म बन्धन का कारण होते हैं अतएव कर्मों को ऐसी विधि से किया जाये कि वे बंधन का कारण न बनें। जो कर्म पाप व पुण्य की भावना से रहित हों, जिन कर्मों को करते हुए कर्ता किसी प्रकार के फल की इच्छा न रखे, वे कर्म नैष्कर्म्य की कोटि में आयेंगे। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्म किस प्रकार से किये जायें कि वे कर्म बंधन का कारण न बनें और नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करवा सकें। नैष्कर्म्य सिद्धि से तात्पर्य मोक्ष से है। नैष्कर्म्य की प्राप्ति मोक्ष के लिये ही है। मोक्ष तभी सिद्ध होगा जब कर्म नैष्कर्म्य की भावना से किये जायें। अतः नैष्कर्म्य प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि कर्म बन्धन का कारण न बनें। इसके लिये यह आवश्यक है कि ज्ञान द्वारा कर्म किये जायें। प्रत्येक कर्म को ज्ञानपूर्वक करने से ही उससे आसक्ति न बनेगी। कर्मों में अनासक्ति से ही कर्म बंधन का कारण नहीं बनेंगे। कर्म अनासक्तभाव से किये जायें इसके लिये ज्ञान आवश्यक है। कर्मों को कैसे बिना किसी फल की इच्छा के किये जायें इसके लिये शुद्ध ज्ञान होना चाहिये। क्योंकि कर्म करना तो स्वाभाविक क्रिया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया कि लोक में रहते हुए मनुष्य को विभिन्न कर्तव्य कर्मों का निर्वाह करना होता है। कोई वैद्य का कार्य करता है, कोई पंडित के कर्म करता है, कोई कुम्हार के कार्य करता है अन्य दुकानदारी करते हैं, कोई किसान खेती का कर्म करता है। ये सब कर्म सहज हैं किसी भी कर्म को करने में कोई दोष नहीं होता। किसी कर्म में कोई कठिनाई या कोई दोष (लोकनिन्दारूपी) समझ कर उसका त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण संसार में जितने भी कर्म हैं उन सभी का आरम्भ किसी न किसी संघर्ष से कठिनाई से अथवा दोष से ही होता है। अतएव इन कर्मों में दोष वैसे ही व्याप्त रहते हैं जैसे कि अग्नि धुएं से घिरी रहती है।^{२९} अतः मात्र इतना आवश्यक है कि कर्म असक्त बुद्धि से किये जायें। निष्काम बुद्धि से किये जाने पर कर्म चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करवाता है। भगवद्गीता में यही कहा है कि सर्वत्र असक्त बुद्धि को रखकर, जितेन्द्रियतापूर्वक विषयभोगों की इच्छा को त्यागकर कर्म फलों के संन्यास द्वारा मनुष्य परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है।^{३०} कर्मों को करते हुए जहां फल की इच्छा के त्याग की बात कही गई है वहीं कर्मों को, इन्द्रियों को विषयों में न फँसाते हुए करने का उपदेश प्राप्त होता है। जितेन्द्रियता तथा विषयों से अस्पृहा का महत्व दर्शाया गया है। नैष्कर्म्य असक्त बुद्धि से कर्म करने पर सिद्ध होता है और असक्त कर्म जितेन्द्रियता व अस्पृहा से सिद्ध होते हैं।

२९ सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ गीता १८.४८

३० असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतरस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ गीता १८.४९

सामवेदीय तत्त्वमीमांसा का ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों पर प्रभाव

डॉ० अङ्कुर कुमार आर्य

सहायकाचार्य (अ.), साहित्यविभाग, श्री भगवानदास आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार

वेद भारतीय साहित्य परम्परा के आदिग्रन्थ के रूप में स्वीकार्य हैं। वैदिक संहिताओं में अन्तर्निहित विविध-विद्याओं, विविध विषयों का प्रभाव पश्चाद्गर्ती साहित्य परम्परा पर निश्चित रूपेण दृग्गोचर होता है। वस्तुतः तो वेदत्रयी में निहित समस्त विद्याओं का प्रभाव उत्तरवर्ती साहित्य पर परिलक्षित होता है। प्रस्तुत शोधपत्र में सामवेदीय तत्त्वमीमांसा का ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में निहित सिद्धान्तों पर क्या प्रभाव है? इस विषय पर विचार किया गया है।

सामवेदसंहिता पूर्वार्चिक में वर्णन है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मतत्त्व के द्वारा स्थूल-जगत्, प्रकृति और नक्षत्र-समूहों को विवृत किया -

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्धि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥^१

आचार्य सायण ने भी तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्० (सामवेद उत्तरार्चिक - १४८३) के भाष्य में लिखा है कि सृष्टि का कर्ता और आदिपुरुष होने के कारण ब्रह्म ही पृथिव्यादि समस्त लोक-लोकान्तरों में स्वप्रकाश स्वरूप में भासमान=दीप्त हुआ; क्योंकि वही सृष्टि का आदि कर्ता है। उक्त प्रसङ्ग को तैत्तिरीयब्राह्मण में अत्यन्त सुन्दरता से उकेरा गया है; जिसमें कहा गया है कि ब्रह्मतत्त्व के द्वारा ही पृथिवीलोक एवं द्यूलोक का निर्माण हुआ -

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षु ।

मनीषिणो मनसां विब्रवीमि वः ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥^२

इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में भी ब्रह्म को ही आदितत्त्व स्वीकार किया है - ब्रह्म वा इदमग्रासीत्^३ षड्विंशब्राह्मण में ब्रह्म (सुब्रह्म) को सृष्टि से भी पूर्व विद्यमान है; ऐसा मानकर अग्नि तथा आदित्य कहा है।^४

ऐतरेयब्राह्मण में प्रजापति को प्रजा का सृजनकर्ता कहा गया है - प्रजापतिः प्रजा असृजत।^५ प्रजा का सृजन करने के कारण प्रजापति को विश्वकर्मा भी कहा गया है - प्रजापतिः प्रजा सृष्ट्वा विश्वकर्मा अभवत्।^६ प्रजा

१ सामवेद, सायणभाष्य पूर्वार्चिक मन्त्र - ३२१

२ तैत्तिरीयब्राह्मण, पृष्ठ सं. - ५७५, (सम्पा०) आर. शामा शास्त्री, गवर्नमेन्ट ब्रांच प्रेस मैसूर, १९२१

३ शतपथब्राह्मण - ११.०२.०३.०१,

४ ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म चास्ताम् - षड्विंशब्राह्मण - ०१.०१.०१; अग्निर्वै ब्रह्मासावादित्यः सुब्रह्म । तत्रैव - ०१.०१.०४

५ ऐतरेयब्राह्मण - १३.१२, पृष्ठ सङ्ख्या - ५७०, भास्कर प्रेस त्रिवेन्द्रम्, १९४२

६ ऐतरेयब्राह्मण - १८.०८

के सृजन के लिये सर्वप्रथम प्रजापति ने तप तपा; अर्थात् तप किया^७ इसी को ऋग्वैदिक नासदीयसूक्त के ऋषि ने 'मनसो-रेतस्' कहा है, जो प्रथम बीजरूप था - कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।^८ ब्राह्मणग्रन्थों में बीजरूप में सर्वप्रथम 'रेतस्' को वर्णित किया गया है; परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में व्याख्यात 'रेतस्' मनस्तत्त्व के रूप में वर्णित न होकर, भौतिकतत्त्व के रूप में वर्णित है। ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार "प्रजापति ने उषा में 'रेतस्' का सिञ्चन किया। सिञ्चित रेतस् एक सरोवर के रूप में एकत्रित हो गया। अग्नि ने उसे तपाया तथा वायु ने सुखाया। वह रेतस् पिण्डीभूत होकर फट गया। फटने पर उससे विभिन्न प्रकार की चिद्धारियाँ निकली। इन चिद्धारियों से विविध प्रकार की चित्र-विचित्र सृष्टि हुई।"^९

उक्त विवेचन में सामवेद के निम्न मन्त्र की भावना परिलक्षित होती है; जिसमें कहा गया है कि परमपिता परमात्मा ने प्रकृतितत्त्व के द्वारा ही सृष्टि का सृजन किया है। भौतिक प्रपञ्च की उत्पत्ति के निमित्त प्रकृतितत्त्व में ही गर्भाधान किया - धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे। दक्षस्य पितरं तना ॥^{१०}

कौषितकीब्राह्मण के अनुसार "देवों ने उषस् में 'रेतस्' का सिञ्चन किया। प्रजापति ने उस रेतस् को हिरण्यमयी चमस में एकत्रित कर लिया। उससे 'सहस्राक्ष' एवं 'सहस्रपात्' देव उत्पन्न हुआ।"^{११}

उक्त प्रसङ्ग में पठित 'उषस्' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है; जो उस अवस्था का द्योतक है; जब प्रजापति के मन में सृष्टि की कामना रूप प्रकाश का बिन्दु उत्पन्न हुआ; क्योंकि तैत्तिरीयब्राह्मण में प्रजापति के सृष्टि कामना रूप तप के समय ज्योति उत्पन्न होने का वर्णन है।^{१२} यही ज्योतितत्त्व यद् वा रश्मितत्त्व उषा है। रेतस् तो कामनातत्त्व है ही। जैसा कि ऋग्वेद का सन्दर्भ सङ्ख्या - ०८ उद्धृत किया जा चुका है।

हिरण्यचमस से उत्पन्न 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्-देव' आलङ्कारिक रूप से प्रजापति को ही द्योतित करता है। सामवेद में प्रजापति को ही 'सहस्रशीर्षाः' और 'सहस्राक्षः' कहा गया है -

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिः सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥ (पूर्वार्चिक मन्त्र - ६१७)

इस मन्त्र में पं. विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने पुरुष परमात्मा को विशेष्य मानकर अन्य सब पदों को पुरुष का विशेषण माना है। जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण के अनुसार महाभूतों की सृष्टि से पूर्व शून्य आकाश सूक्ष्मतत्त्व के रूप

७ प्रजापति प्रजातिकामस्तपोऽतप्यत - कौषितकीब्राह्मण - ०६.०१ तथा १०; प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस सोऽकामयत प्रजायेय भूयान्यामिति स

तपोऽतप्यत - ऐतरेयब्राह्मण - १०.०१; प्रजापतिरकामयतस्यां प्रजायेय। ऐतरेयब्राह्मण - १९.०१

८ ऋग्वेद - १०.१२९.०४

९ ऐतरेयब्राह्मण - १३.०९

१० सामवेद, उत्तरार्चिक, सायणभाष्य मंत्र - १४७९

११ कौषितकीब्राह्मण - ०६.०१

१२ तैत्तिरीयब्राह्मण - ०२.०२.९०.०१-०३

में 'वाक्' था। उक्त ब्राह्मणग्रन्थ में वर्णित 'तामेतां वाचं प्रजापतिभ्यपीडयत्' से अभिप्राय है कि उस प्रजापति ने 'अव्यक्त-वाक्' को गति प्रदान कर हलचल पैदा कर दी। वह व्यक्तिभूता होकर प्राणशक्ति सम्पन्न हो गई। इसी 'व्यक्त-वाक्' का परिणाम हुआ ऋक्-यजु-साम रूपात्मक त्रयी विद्या। अतः विश्वकर्मा प्रजापति के द्वारा इन लोकों में एक बड़े स्तर पर गति दी गई, जिससे एक परमाणु का अन्य परमाणु से संयोग होकर बहुत से पदार्थों का उद्भव स्वाभाविक ही रहा होगा। समस्त परमाणु संगठनों के प्रतिनिधि, अग्नि, वायु, आदित्य के रूप में यह देवत्रय हुआ; परन्तु अन्त में इन सभी के सार को अक्षरब्रह्म कहा है।^{१३} उन तीनों देवों का सम्बन्ध भूः भुवः स्वः को व्याहृतित्रय से स्वीकार किया है, एवम् इनसे ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है।^{१४} तैत्तिरीयोपनिषद्कार ने यद्यपि आकाशतत्त्व से ही समस्त भूतादिक सृष्टि मानी है; किन्तु आकाशतत्त्व को भी ब्रह्म से सम्भूत मानता है - तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली प्रथमोऽनुवाक) गायत्र्योपनिषद्कार ने भी यही तथ्य विलोमक्रम से समस्त सृष्टिगत तत्त्वों का समाहार करते हुये अन्त में सभी के कारणभूत आकाशतत्त्व को ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित माना है - "वेदावाचि प्रतिष्ठिता वाङ्मनसि प्रतिष्ठिता मनः प्राणे प्रतिष्ठितं प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितोऽन्नं भूमौ प्रतिष्ठितं भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिताः ज्योतिर्वायो प्रतिष्ठितः। वायुराकाशं प्रतिष्ठित आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितम्।"। (गा.उप. अष्टम कण्डिका) इस विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व अव्यक्त रूप में ब्रह्म की सत्ता थी तथा ब्रह्म के द्वारा सृष्टि-प्रक्रिया आरम्भ हुई।

उक्त विवेचन पर सामवेद ने निम्न मन्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है -

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्टाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥ पूर्वार्चिक - ३२१

सामवेदीय सृष्टिप्रक्रिया को ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञसंस्था के द्वारा व्याख्यायित किया है। प्रजापति सृष्टि की कामना करता है। इससे सृष्टि प्रक्रिया शुरू होती है। सृष्टि की इस प्रक्रिया का संवर्धन ही एक प्रकार का यज्ञ है। प्रजापति ने सृष्टि हेतु जो तप तपा वह भी यज्ञ माना गया है। प्रतीत होता है कि प्रजापति ने सृष्टि के लिये ही यज्ञ संस्था का विकास किया था और स्वयं भी यज्ञ रूप हो गया था - 'यज्ञो वै प्रजापतिः।'^{१५} सृष्टि का मूल आधार यज्ञ ही है - यज्ञाद्वै प्रजा.....अन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजा प्रजायन्ते। (शतपथब्राह्मण - ०१/०९/०१/०५)

ऐयरेयब्राह्मण के अनुसार सृष्टियज्ञ का आविर्भाव प्रजापति के द्वारा किया गया किया। प्रजापति ने अश्याधेय के द्वारा रेतस् को उत्पन्न किया। अग्निहोत्र से देवताओं, मनुष्यों और असुरों को उत्पन्न किया। दर्शपूर्णमास से इन्द्र को, यज्ञों से ही अन्न-पान उत्पन्न किये, अन्न को आग्रायण यज्ञ से उत्पन्न किया। इनके

१३ जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (सम्पूर्ण-खण्ड) - ०१.०७.०१

१४ जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण - ०१.०१.०१-०४

१५ यज्ञो वै प्रजापतिः कौषितकीब्राह्मण - १०.०१ तथा १३.०१ तथा ऐतरेयब्राह्मण - १९.०४; एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते। शतपथब्राह्मण -

अतिरिक्त जिन-जिन वस्तुओं की कामना की उन सबको यज्ञों से ही प्राप्त किया।^{१६} ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने प्रजा की उत्पत्ति वैश्वदेवयज्ञ से की - वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत। (ऐतरेयब्राह्मण) इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि प्रजापति ने यज्ञ का सृजन किया। यज्ञ सृजन के बाद उससे ब्रह्म और क्षत्र का सृजन हुआ, इनसे दो प्रकार की प्रजा उत्पन्न हुई - हुताद एवम् अहुताद। हुताद अर्थात् सोमपान का अधिकारी तथा अहुताद अर्थात् जो सोमपान का अधिकारी नहीं है। 'हुताद' - ब्राह्मण थे और 'अहुताद' - क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र थे - प्रजापति यज्ञमसृजत यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे अनुद्वय्य प्रजा असृज्यन्त हुतादश्च अहुतादश्च, ब्रह्मैवानु हुतादः क्षत्रमनु - (ऐतरेयब्राह्मण ३४/०१) इस प्रकार निष्कर्षतः ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि उत्पत्ति यज्ञ द्वारा मानी गई है।

उक्त सृष्ट्युत्पत्ति विषयक वर्णन पर सामवेदीय प्रभाव निम्न मन्त्रांश से परिलक्षित होता है - तत्ते यज्ञो अजायत। (सामवेद, उक्त० - १४३०) यज्ञ और सृष्टि को आधार-आधेय मानते हुए परमपिता परमात्मा के द्वारा यज्ञ की उत्पत्ति की गई है और अग्नि को होता कहा गया है - त्वमग्ने गृहपतिस्त्वः होता नो अध्वरे। (सामवेद, पूर्वा० - ६१) ब्राह्मणग्रन्थों में ईश्वर के विविध नाम पठित हैं; जो कि एक ही तत्त्व के वाचक हैं। 'अग्नि' नाम परमतत्त्व वाचक होने से सभी का अधिष्ठातृदेव है - अग्नेर्वा एता सर्वास्तन्वो यदेता देवता। (ऐतरेयब्राह्मण - ११/०४) उक्त वर्णन प्रसङ्ग में सामवेद मन्त्र सङ्ख्या - ९१ का प्रभाव दिखाई देता है। उक्त मन्त्र में अग्निदेव के आदित्य, विष्णु आदि नाम वर्णित है -

सोमः राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ (सामवेद, पूर्वार्चिक - ९१)

ऐतरेयब्राह्मण में कहा गया है कि परमतत्त्व रूप में अग्नि सबसे मुख्य हैं।^{१७} तैत्तिरीयब्राह्मणकार ने 'अग्नि पृथिवीपते' सूक्ति के माध्यम से अग्नि को और पृथ्वीपति अर्थात् पृथिवी पर शासन करने वाला कहा है;^{१८} जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमतत्त्व-अग्नि विश्व का अधिपति है।

उक्त विषय के वर्णन प्रसङ्ग में सामवेद में भी अग्नि को 'सर्वाग्रणी' तथा 'ब्रह्माण्ड का अधिपति' कहा गया है।^{१९} ब्राह्मणग्रन्थों में अग्नि के समान ही सविता को सब प्राणियों का स्वामी और सब प्रकार की उत्पत्तियों का अधिष्ठाता माना गया है - सविता वै प्रसवानामीशे। (कौषितकीब्राह्मण - ०५/०२) उक्त ब्राह्मण के मतानुसार

१६ प्रजापति यज्ञमसृजत यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम् ब्रह्मक्षत्रे अनुद्वय्यः प्रजा असृज्यन्त हुतादश्च अहुतादश्च, ब्रह्मैवानु हुतादः क्षत्रमनु - अहुताद एता वै

प्रजा हुतादो यद्ब्राह्मणा अथैता अहुतादो यद् राजन्यो वैश्यः शूद्रः। ऐतरेयब्राह्मण - ३४.०१

१७ ऐतरेयब्राह्मण - ०५.०२ तथा कौषितकीब्राह्मण - ०३.०६

१८ कौषितकीब्राह्मण - ०१.०१

१९ सामवेद मन्त्र सङ्ख्या - ०३ तथा ०६ पर सायणभाष्य

सविता से बल, यश अन्न आदि की प्राप्ति होती है - सविता वै प्रसविता ।^{२०} सामवेद के अनुसार भी सविता के द्वारा बल, यश अन्न आदि की प्राप्ति होती है -

यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा । सुवाति सविता भगः ॥ (सामवेद, उत्तरार्चिक - १३५१)

तथा यह सब का प्रेरक है -

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ (सामवेद, उत्तरार्चिक - १४६२)

इसी प्रकार भारतीय उपनिषद् परम्परा पर भी सामवेदीय तत्त्वमीमांसा का प्रभाव परिलक्षित होता है । यथा- ईशोपनिषद् में ईशा वास्यमिदं सर्वम्० मन्त्र के द्वारा समस्त चराचर जगत् को ईश्वर से आच्छादित माना गया है । श्वेताश्वतरोपनिषद् (०४/९-१०) में ब्रह्मतत्त्व 'माया' से अभिहित किया गया है यथा, "मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" तथा "मायी सृजते विश्वमेतत् ।" कठोपनिषद् में ब्राह्मीशक्ति के द्वारा सूर्य उदित होता है तथा अस्त होता है, ऐसा माना गया है । इस शक्ति का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है । यह भी कहा गया है कि "उस ब्रह्म की शक्ति से ही सूर्य उदय होता है, उसी की शक्ति से अस्त होता है, समस्त देव उसी में अर्पित हैं, उस का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता" -

यतश्चोदिते सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥^{२१}

सामवेदीय तत्त्वमीमांसा में भी ब्रह्म को सृष्टि का मूल कारण तथा समस्त चराचर जगत् का उत्पत्तिकर्ता माना है

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषुनृम्णः ।

सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून्नु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ (मन्त्र - १४८३ पर सायण भाष्य)

ऐतरेयोपनिषद् में यह आख्यान उपलब्ध होता है कि ब्रह्म ही सबसे पूर्व अर्थात् इस कार्य रूप जगत् से पूर्व विद्यमान था, उसके तुल्य कोई नहीं था जो उसकी स्पर्धा करता, वह ब्रह्म निरपेक्ष रूप में वर्तमान था । उसने ही ईक्षण शक्ति द्वारा सभी लोक-लोकान्तरों को उत्पन्न किया - आत्मा एव इदमेक एवाग्र आसीत्० । (ऐतरेयोपनिषद् - ०१/०१) वह ब्रह्म अकेला अपनी शक्ति से नानाविध संसार का प्रादुर्भाव अर्थात् रचना करता है ।^{२२}

उक्त वर्णन प्रसङ्ग में पूर्व में कह दिया गया है कि सामवेदीय तत्त्वमीमांसा के अनुसार माना गया है कि ब्रह्म के द्वारा स्थूल जगत्, प्रकृति एवं नक्षत्र समूहों को विवृत किया है -

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्धि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥^{२३}

२० कौषितकीब्राह्मण ६.१४ सविता वै प्रसविता ।

२१ कठोपनिषद् - ०२.०१.०९

२२ य एकोऽवर्णो बहुधा.....शुभया संयुनक्तु ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् - ०४.०१

२३ सामवेद - ३२१ पर आचार्य सायण का भाष्य

कठोपनिषद् के अनुसार वेदों जिस ब्रह्म को वर्णित किया गया है; जिसको ब्रह्मचर्य तथा तपादि साधनाओं के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है; वह 'ओश्म्' है। सामवेदीय तत्त्वमीमांसा में ब्रह्म को वेदों को अधिपति स्वीकार किया गया है।^{२४}

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म को सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष तथा सहस्रपात् माना गया है। वह पृथिवी को समस्त ओर से व्याप्त करके, अनन्त रूप से उसका अतिक्रमण करके स्थित है।^{२५} जो कुछ भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष तथा जो अन्न के द्वारा वृद्धि को पाता है वह सब कुछ पुरुष ही है एवं वही अमृतत्व का स्वामी है -

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदान्नेनातिरोहति ॥^{२६}

उक्त विवेचन सामवेदोक्त मन्त्रों में किञ्चित् शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया गया है; किन्तु तात्पर्य एक ही है -

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥^{२७}

उक्त मन्त्रों में पुरुष के रूप में ब्रह्मतत्त्व का ही प्रतिपादन किया गया है।

ईशोपनिषद् में तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद् उ अन्तिके। इत्यादि मन्त्र द्वारा ब्रह्म को मन से भी अधिक वेगवान् तथा इन्द्रियों के द्वारा अप्राप्य कहा गया है।^{२८} ईशोपनिषद् में पठित उक्त मन्त्र पर सामवेद के न किष्वा गोषु वृण्वते ॥ मन्त्र का प्रभाव दृग्गोचर होता है; इसमें ब्रह्म को इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता; ऐसा कहा गया है।^{२९}

सामवेद में जहाँ एकेश्वरवाद का समर्थन करते हुए निम्न मन्त्र को उद्धृत किया है - सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे । आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥^{३०} वहीं श्वेताश्वतरोपनिषद्कार "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः"^{३१} के माध्यम से एकेश्वरवाद का समर्थन करते हैं।

२४ यैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनुता । अच्छा वीरं नर्यं पङ्किराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ सामवेद, पूर्वार्चिक - ५६

२५ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यातिष्ठद्दशाङ्गुलम् । श्वेताश्वतरोपनिषद् - ०३.१४

२६ श्वेताश्वतरोपनिषद् - ०३.१५

२७ सामवेद ६१७ तथा ६१९

२८ ईशोपनिषद् - ०५

२९ तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् । सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न किष्वा गोषु वृण्वते ॥ सामवेद, सायणभाष्य, मन्त्र - २७०

३० सामवेद, मन्त्र - ९१ पर आचार्य सायण का भाष्य

३१ श्वेताश्वतरोपनिषद् - ०४.०२

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार प्राण प्रजा के स्वामी के रूप में विचरता है तथा गर्भ में माता-पिता का उत्पत्तिकर्ता है।^{३२} सामवेद में भी वह परमेश्वर ही स्थावर और जंगम रूप सकल प्राणियों के भीतर अग्निरूप में अपने को ही गर्भरूप में स्थापित करता है - भूतानां गर्भमा दधे।^{३३}

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों आदि में निहित तत्त्वचिन्तन सामवेद संहिता में प्रतिपादित तत्त्वचिन्तन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। वस्तुतः सामवेदीय तत्त्वमीमांसा का परवर्ती साहित्य परम्परा पर प्रभाव अत्यन्त विस्तृत और श्रमसाध्य कार्य है; जो कि पृथक् से शोध का विषय है। यहाँ तो प्रकरणवशात् कतिपय उदाहरण मात्र ही प्रस्तुत किये गये हैं।

३२ प्रश्नोपनिषद् - ०२.०७

३३ धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे । दक्षस्य पितरं तना ॥ सामवेद - १४७९

वैदिक राष्ट्र अवधारणा (संहिताओं के विशेष परिप्रेक्ष्य में)

डॉ० उमा आर्या

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,

E-Mail : umaaryajnu@gmail.com

राज् दीस्यर्थक धातु से औणादिक प्रन् प्रत्यय जुडकर राष्ट्र” शब्द निष्पन्न होता है। ‘राष्ट्र’ एक ऐसे भूभाग को कहते हैं, जहाँ पर एक शासक की शासन पद्धति होती है। “वाचस्पत्यम्” में राष्ट्र का अर्थ जनपद^१ तथा “बृहद् हिन्दी कोश” में राष्ट्र का अर्थ देश, राज्य और जाति किया जाता है। वास्तव में सच्चा राष्ट्र वहाँ होता है जहाँ स्वराज्य विद्यमान है।

स्वराष्ट्र से अभिप्राय ऐसा राष्ट्र जो पूर्णरूपेण-स्वतन्त्र शक्तिशाली समृद्ध तथा सुरक्षित हो। जहाँ अपना (स्व) शासन (तन्त्र) हो। राष्ट्र शब्द आप इंग्लिश शब्द नेशन के पर्याय रूप में रूढ़ हो गया है। राष्ट्र शब्द आज राज्य का वाची न होकर “देश” शब्द का पर्याय बन गया है। राज्य का अभिप्रेत अर्थ है - किसी एक देश की अथवा राष्ट्र की राजनीतिक इकाई - यथा उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा बंगाल इत्यादि। उदाहरणार्थ सभी पहचान पत्रों पर “राष्ट्रियता” शब्द के आगे लिखा होता है - “भारत का नागरिक”

महर्षि दयानन्द ने स्वराज का अर्थ स्वयं राजते इति स्वराट्” अर्थात् स्वतन्त्र शासक, स्वयं प्रकाशस्वरूप तथा स्वतन्त्र राज्यकर्ता^२ तथा स्वराज्य के विषय में प्रकाशरूप राज्य एवं स्वराज्य अर्थ किया है।^३ स्वराट् का राज्य ही स्वराज्य (स्वराष्ट्र) होता है। सायणाचार्य के अनुसार- “स्वकीयेन तेजसा राजमानः। स्वयमेव दीप्तः।” इस परिभाषा में स्वराट् शब्द का अर्थ किया गया है।^४ स्वराज्य के विषय में स्वस्य राज्यं राजत्वं या स्वामित्वं कहा है।^५ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में स्वराज्य सूक्त में स्वराष्ट्र प्राप्ति हेतु प्राण न्यौछावर करने का सन्देश प्राप्त होता है।

षोडश ऋचाओं में स्वराष्ट्र हेतु जो सूक्ष्मेक्षिका परिलक्षित होती है, अनेक ऋचाओं में इडा (मातृभूमि), सरस्वती (मातृसंस्कृति) और अपनी मही (मातृभाषा) के प्रति समर्पण, आदर की भावना निहित है, जो स्वराष्ट्र की एकता का संवाहक है।^६ इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ‘अर्चन् ननु स्वराज्यम्’ कहकर स्वराज्य की महिमा का वर्णन किया है।^७ भूमि से दुष्टों और शत्रुओं को नष्ट कर दे।^८ राजा के प्रताप तथा वीरता से सम्पूर्ण

१ वाचस्पत्यम् कोषग्रन्थ-३.३३

२ ऋग्वेद- १.५१.१५ (दयानन्द-भाष्य)

३ ऋग्वेद- १.८०.१-१६ (दयानन्द-भाष्य, दयानन्द संस्थान दिल्ली)

४ स्वकीयेन तेजसा राजमानाय, स्वयमेव दीप्ताय। सायणभाष्य ऋग्वेददीपिका-भाग-१

५ शविष्ठ ब्रजिमोजसा पृथिव्या निःशसम् अहिमर्चन्नु स्वराज्यम्, ऋग्वेद १.८०.१-१६

६ इडा सरस्वती महीतिसोदेवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वास्त्रिभः। ऋग्वेद-५.५.८

७ ऋग्वेद १.८०.१-१६ मन्त्र

द्यावापृथिवी भयभीत हो जाए।^१ स्वराज्य की प्राप्ति पर बल देते हुए कहा गया है- 'यतेमहि स्वराज्ये'^{१०} अर्थात् स्वराज्य के लिए प्रयत्नशील रहें। इस मन्त्र में दो विशेषण दिए गए हैं- (१) व्यचिष्टे अर्थात् व्यापक स्वराज्य का जितना अधिक विस्तार सम्भव हो करना चाहिए, (२) बहुपाय्ये बहुत मनुष्यों के द्वारा रक्षणीय हो। इसका अभिप्राय है कि स्वराज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व किसी व्यक्ति विशेष पर न होकर सारी प्रजा पर होता है। सभी के प्रयत्न से स्वराज्य स्थिर होता है।^{११} ऋग्वेद में अधिकांश स्थलों पर इन्द्र के लिए स्वराट् शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है।^{१२}

ऋग्वेद में स्वराष्ट्र-

स्वराज्य शब्द इन्द्र द्वारा शासित राज्य, पृथ्वी या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के लिए प्रयुक्त हुआ है।^{१३}

स्वराज्य शब्द से भारत की प्राचीन राजधर्म व्यवस्था का संकेत मिलता है। इन्द्र के स्वराज्य का उल्लेख अष्टम मण्डल के ९३ वें सूक्त में हुआ। वैदिक ऋषि कहता है- हे इन्द्र! तुम्हारे आदेश और राज्य को कोई दिव्य पुरुष और अधीर सामान्य व्यक्ति प्रतिकार नहीं कर सकता है।^{१४} वैदिक साहित्य में राष्ट्र शब्द-राष्ट्रं, राष्ट्रानि, राष्ट्रेण, राष्ट्राय, राष्ट्रान्, राष्ट्रस्य, राष्ट्रानाम् तथा राष्ट्रे - इन विभक्तियुक्त रूपों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में 'द्विता राष्ट्र'^{१५} का उल्लेख किया गया है। यहाँ द्विता राष्ट्र से भाष्यकारों का अभिप्राय आकाश और पृथ्वी से है।^{१६} ऋग्वेद में राष्ट्र शब्द का बहुवचन में उल्लेख किया गया है और वहाँ वरुण को कई राष्ट्रों का राजा बताया गया है।^{१७} ऋग्वेद में इन्द्र और वरुण के तुल्यरूप बृहद् राष्ट्र का उल्लेख किया गया है जो वर्षा के द्वारा सबको प्रसन्न करता है।^{१८} ऋग्वेद में एक ऐसे राष्ट्र का उल्लेख किया गया है जो क्षत्रिय के द्वारा रक्षित होने पर शत्रु के हाथ कभी नहीं लगता।^{१९} ऋग्वेद में राष्ट्र की राक्षसों से रक्षा करने का उल्लेख किया गया है।^{२०} ऋग्वेद में एक सम्पूर्ण सूक्त राजा-

८ निरिन्द भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ, ऋग्वेद १.८०.४

९ इमे चित् तव मन्यते, वेपेते भियसा मही ऋग् १.८०.११

१० व्यचिष्टे बहुपाय्ये, यतेमहि स्वराज्ये ऋग्- ५.६६.६

११ वेदों में राजनीतिशास्त्र, पृ. सं.-१६४

१२ (प) इदं नमो वृषभाय स्वराज्ये ऋग्- १.५१.१५ (पप) उत स्वराज्ये अदितिः स्तोतमिन्दाय जीज्जत ऋग्-८.१२.१४

१३ ऋग्वेद- १.८०.१-१६, ऋग्वेद- १.८४.१०-१२, ऋग्वेद- १.९३.११

१४ यस्य ते नू चिदादिशं न मिनान्ति स्वराज्यम् । न देवो नाग्निगुर्जनः । ऋग् ८.९३.११

१५ मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः । ऋतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य ववेः ।। ऋ. ४.४२.१

१६ द्विता क्षितिस्वर्गभेदेन द्वितापत्रं राष्ट्रम् । ऋ. ४.४२.१ पर सायणाभाष्य

१७ युवो राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायुः ।। ऋ. ७.३४.११

१८ युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौर्यौ सेतुभिरज्जुभिः सिनीथः । परि नो हेळो वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्रः कृणवन्दु लोकम् ।। ऋ. ७.८४.२

१९ हस्तेनैव ब्राह्म आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन् । न दूताय प्रहो तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ।। ऋ. १०.१०९.३

२० अग्निः सोमो वरुणस्ते च्यवन्ते पर्यावद्राष्ट्रं तदवाम्यायन् ।। ऋ. १०.१२४.४

विषयक है। इसके प्रथम मन्त्र में राजा से राष्ट्र के कभी अलग न होने का कथन किया गया है।^{२१} ऋग्वेद में राजा से राष्ट्र को अटल रूप में धारण करने का उल्लेख किया गया है।^{२२} ऋग्वेद में वरुण, बृहस्पति, इन्द्र तथा अग्नि से राजा के राष्ट्र को दृढ़ रूप से धारण करने की प्रार्थना की गई है।^{२३} ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति से प्रार्थना की गई है कि वह अभीतवर्त मणि के द्वारा राष्ट्र की प्राप्ति के लिए प्रेरित करे।^{२४}

ऋग्वेद में वाक् के लिए 'राष्ट्री' शब्द का प्रयोग किया गया है।^{२५} ऋग्वेद की आश्वलायनसंहिता में इस बात का उल्लेख किया गया है कि जिस उत्तम राष्ट्र में मैं पैदा हुआ हूँ, देवता उस राष्ट्र में कीर्ति और वृद्धि धारण करावे^{२६} तथा राष्ट्र की लक्ष्मी का उल्लेख किया गया है और उससे अपने को संयुक्त करने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है।^{२७} ऋग्वेद खिल में परीक्षित के राष्ट्र में व्यक्तियों के कल्याण-प्राप्ति का उल्लेख है।^{२८}

यजुर्वेद में प्रयुक्त राष्ट्र शब्द -

यजुर्वेद में ऋषि बार-बार जलों को 'राष्ट्रदा' अर्थात् राष्ट्र प्रदान करने वाला कहता है और उनसे अपने लिए तथा दूसरों के लिए भी राष्ट्र प्रदान करने की कामना करता है।^{२९} यह बात उल्लेखनीय है कि यहाँ जालों को ३३

२१ आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचालिः ।

२२ इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलिः । इनद्रइवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय ।। ऋ. १०.१७३.१

२३ ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः । ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।। ऋ. १०.१७३.५

२४ अभिवर्तन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते । तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय ।। ऋ. १०.१७४.१

२५ यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्रीय देवानों निषसाद मन्द्रा । चतस्र ऊर्जं दुहुहे पयांसि क स्विदस्याः परमं जगाम ।। ऋ. ८.१००.१०; अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।

२६ उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह । प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिं वृद्धिं ददातु मे । आश्वसं. ५.८८.७

२७ सम्राजं च विराजं चाभिष्टियां च मे ध्रुवा । लक्ष्मी राष्ट्रस्य या मुखे तथा मामिन्द्र संसृज ।। आश्वसं. १०.१३०.४

२८ कतरत्त आ हराणि दधि मन्थां परिखुतम् । जाया पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ।। ऋ. खिल. ५.१०.३; अभीव स्वः पत्र जिहीते यवः पक्रः पथो विलम् । जनः स भद्रमेधते राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ।। ऋ. खिल. ५.१०.४

२९. वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा, वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै देहि; वृष्णसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा, वृष्णसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै देहि । मा. यजु. १०.२; अर्थत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, अर्थत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; आपः परिविहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, आपः परिविहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा, अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै देहि; अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा, अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै देहि ।। मा. यजु. १०.३; सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; वाशी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, वाशी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; शकरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, शकरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा, विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त; आपः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त । मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ।। मा. यजु. १०.४

बार 'राष्ट्रदा' कहा गया। राष्ट्र शब्द वैदिक साहित्य में दृष्टिगत होता है। ऋग्वेद में राष्ट्र क्षत्रियस्य, राजा राष्ट्रानाम् राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य। राजा द्वारा रक्षित भू भाग राष्ट्र कहलाता है। यजुर्वेद के दशम अध्याय में राष्ट्र शब्द प्राप्त होता है - वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि। राष्ट्रदा राष्ट्रे मे देहि।। तू बल को बढ़ाने वाला है राष्ट्र को देने वाला है। उसे राष्ट्र दो एवं राष्ट्र देने वाला है। मुझे राष्ट्र दो।

राष्ट्राणि वै विशः ऐ. ब्रा. ८.२६; क्षत्रं हि राष्ट्रम् ऐ. ब्रा. ७.२२; राष्ट्रं मुष्टिः श. १३.२.९.७; सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः श. ब्रा. ११.४.३१४; श्री वैः राष्ट्रम श. ब्रा. ६.७.३.७; राष्ट्रं वा अश्वमेधः श. ब्रा. १३.१.६.३; श्रीः वै राष्ट्रस्य मध्यम् श. ब्रा. १३.२.९.४; राष्ट्रं हरिमः श. ब्रा. १३.२.९.८

शिवराम आप्टे मानक हिन्दी कोश में राष्ट्र का अर्थ राज्य, देश, किसी निश्चित, विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनकी एक भाषा, एक से रीति-रिवाज तथा एक सी विचारधारा होती है तथा किसी एक शासन में रहने वाले सब लोगों का समूह अर्थ किया गया है।

वैदिककालीन राष्ट्र -

ओम् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रं राजन्यः शूरे इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्धी धेनुर्वोढानङ्गानाशुः ससिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

हे ब्रह्म महान् शक्तिशाली परमेश्वर! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों। वीर, बाण वेधन में कुशल, शत्रुओं को भलीभांति परास्त करने वाला महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। इस यजमान की गाय दूध देने वाली हो, बैल वहनशील हो, घोड़ा शीघ्र गमन करने वाला हो, स्त्री सर्वगुण-सम्पन्न हो, इसका रथ में बैठने वाला महावीर, जयशील, पराक्रम करने वाला, सभ्य युवा पुत्र हो। हमारे राष्ट्र में प्रत्येक योग्य अवसर पर (जब - जब हमें आवश्यकता हो तब - तब) मेघ बरसें। हमारी ओषधियाँ फल से युक्त होकर पकें और हमारी अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति (योग) और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा (क्षेम) उत्तम रीति से होती रहें।

राष्ट्रदेवी के रूप में राष्ट्र -

इसके अतिरिक्त समग्र राष्ट्र को राष्ट्रदेवी के रूप में परिकल्पित किया है। जो अमूर्त राष्ट्र शक्ति का ही मानवीकरणात्मक मूर्तरूप ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त में दृष्टिगोचर होता है।

स्वयं वाक् कहती है - अहं राष्ट्री, संगमनी वसूनाम्।^{३०}

वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर शासन पद्धतियों का उल्लेख मिलता है। जैसे स्वराज, साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य, सर्वराज्य, एकराट् इत्यादि। एकराट् व्यवस्था का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। वहां स्पष्ट किया गया है कि समुद्र पर्यन्त सम्पूर्णपृथ्वी मण्डल का एक शासन प्रबन्ध हो तथा एक ही राजा हो।^{३१} वर्तमान

३० ऋग्वेद १०.१२५ सूक्त

३१ समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्- ऐतरेयब्रह्मण

काल में जिस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ की कल्पना की गई है, उससे भी उत्कृष्ट पुराकाल में पृथिव्याः एकराट् की पृष्ठभूमि तैयार की गई थी। क्योंकि पृथक् पृथक् राजव्यवस्थाओं में परस्पर युद्धादि की सम्भावना बनी रहती है। युद्ध से मानवता का संहार होता है इसी तथ्य को समझ रखकर ब्रह्मर्षियों ने पृथिव्या एकराट् की व्यवस्था की कल्पना की थी।

ऋग्वेद के अनुसार श्रेष्ठ मनुष्यों से उत्तम राष्ट्र की स्थापना स्वतः ही हो जाती है।^{३२}

विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत वर्ग संघर्ष की अवधारणा को नकारते हुए ऋग्वेद कहता है -समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।^{३३}

ऋषियों ने सभी निवासियों में समानता, सहृदयता तथा भ्रातृत्व की अवधारणा को पुष्ट किया था। इतनी संकीर्ण विचारधारा उनकी नहीं थी कि पृथ्वी को छोटे-२ खण्डों में बाँट दिया जाए। वैदिक ऋषियों ने विशाल राष्ट्र की कल्पना की थी, जिसका शासन सम्राट् द्वारा किया जाए। ऋषियों ने सम्पूर्ण धरित्री को ही एक राष्ट्र मानकर सम्पूर्ण पृथ्वी में मातृत्व कल्पना की। सदैव वर्गभेद का परित्याग कर परस्पर भ्रातृभाव को सम्पादित किया था। सम्भवतः उनका संकल्प यही रहा होगा कि पृथ्वी पर रहने वाले मानव मात्र परस्पर स्नेह से मिल-जुल कर एक परिवार के सदस्यों के सदृश रहें जिससे राष्ट्र उन्नति के शिखर पर प्रतिष्ठित रहे। ऋग्वेद में “भूमि” को माता के रूप में परिकल्पित किया गया है।^{३४} भूमि को दयालु माता के रूप में वर्णित किया गया है।^{३५} राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत एवं उदात्त भावोद्धारों से युक्त मातृभूमि स्तवन सुदुर्लभ है। ऋग्वेद में कहा गया है - राजा राष्ट्र को गिरने न दे।^{३६} उसे धारण करें, अर्थात् (प्रजा) का भरण पोषण करें^{३७}, राष्ट्र का निर्माण करें।^{३८} किसी भी राष्ट्र के सर्वाङ्गीण विकास के लिए आवश्यक है कि समस्त प्रजा के लिए भोजनादि प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर वेदों में सम्पूर्ण प्रजाजनों के लिए समुचित अन्नप्राप्ति तथा अन्नक्षीण न होने पर बल दिया है।^{३९} इससे स्पष्ट होता है कि राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से भी समुन्नत बनाने के संकेत ऋग्वेद में विद्यमान हैं। ऋग्वेद में इन्द्र से कहा गया है कि राष्ट्र में छोटे -२ प्रजाजनों की भी प्रगति हो।^{४०}

३२ मनुर्भव जनमा दैव्यं जनम् - १०.५३.६

३३ ऋग् १०.१९१.४

३४ माता पृथिवी १.१६४.३३

३५ उप सर्प मातरं भूमिम् एतासुरुव्यचेसं पृथिवीं सुरोवाम् १०.१०.१०

३६ मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ऋग्वेद -१०.१७३.१

३७ इह राष्ट्रमुधारय, राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् १०.१७३.२

३८ ऋग्वेद १०. १७४. १

३९ (१) नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टिं चकर्थ । ऋग्वेद-१.६९.७; (२) शुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः । ऋग्वेद १.१०४.७; (३) मा वः सुसोचमसो दंहतातम् ऋग्वेद १.१०१.८

४० असि दभ्रस्य चिद्वृधः- १.८१.२

ऋग्वेद में ऋषि वसिष्ठ के कथनानुसार सच्चा राष्ट्र वही है जहाँ का शासक इन्द्र के समान अपनी प्रजा को वर्षा के द्वारा, अपने उदार व्यवहार से सन्तुष्ट रखता है, और वरुण के समान अपनी न्याय व्यवस्था से प्रजा को पापकर्म से पृथक् रखता है। महर्षि दयानन्द के अनुसार राजा और प्रजा इन दोनों की समृद्धि की कल्पना करते हुए कहा - हे राजा और राज्य निवासी लोगों! तुम्हारा राष्ट्र द्युलोक-पर्यन्त विस्तृत हो, जहाँ तुम दोनों सदा प्रेमपूर्वक परस्पर बंधे रहो।^{४१} इसी प्रकार ऋग्वेद में क्षत्रिय को राष्ट्र का रक्षक माना है, तथा राज्य की सीमा के अन्तर्गत आने वाले भूभाग के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग मिलता है। राष्ट्र क्षत्रियस्य^{४२} राजा राष्ट्रनाम्^{४३} तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य^{४४} इत्यादि मन्त्रभागों से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय के द्वारा शासित भूभाग को राज्य (राष्ट्र) कहते थे और कई राज्य एक राजा के अधीन होते थे। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में आदर्श राष्ट्र की कल्पना की गई है। सोम देवता से प्रार्थना में कहा गया है- हे सोमदेव! मुझे ऐसे भूभाग में निवास स्थान दो, जहाँ आनन्द, आमोद प्रमोद आदि हो। जहाँ सम्पूर्ण कामनाएँ तृप्त हो।^{४५} सभी वस्तुएँ उपलब्ध हो, सुखसम्पन्न स्वर्गतुल्य स्थान हो तथा सभी कामनाओं की तृप्ति हो सके।^{४६} जहाँ प्रकाश हो, निरन्तर बहती हुई नदियाँ हो, ऐसा स्थान मुझे दो।^{४७} प्राचीनकाल में सम्पूर्ण राजनीति एक सुयोग्य राजा तथा मन्त्रियों की धुरी के चारों ओर केन्द्रित रहती थी। सकल राजत्व राजा के साम्राज्य में प्रतिबिम्बित होता था। राष्ट्र का निर्माण प्रजा से होता था।^{४८} ऋग्वेद के दशम मण्डल के १३३ वे सूक्त में ऋषियों द्वारा राष्ट्रनायक को उपदेश दिया गया है कि स्थिरता एवं दृढ़निश्चय पूर्वक राष्ट्र तथा प्रजाजनों की रक्षा करें। अपने कुल पुरोहितों से प्रार्थना करते हैं कि युद्धभूमि में विजयश्री प्राप्त कराने वाली अभीवर्त नामक मणि को धारण करावें, जिससे शत्रुओं को पराजित कर अपने राष्ट्र को समृद्ध करें।^{४९} राष्ट्र की अखण्डता मानव-मात्र में एकता तथा परस्पर स्नेह से ही सम्भव है। ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में जन्मभूमि के लिए मातृत्व की कल्पना की गई है। राष्ट्र की उन्नति और समृद्धि के लिए परस्पर कलह छोड़कर अपने कर्तव्य-पालन का निर्वाह करें। ऋग्वेद की समाप्ति जिस संगठन सूक्त से होती है, उसमें राष्ट्र को सृष्टि बनाने का उपदेश दिया गया है। स्वराष्ट्र की भावना कूट-कूटकर समाहित की गई है, हम मिलकर चलें, मिल-जुलकर बोले, हमसब के हृदय समान हो इत्यादि।^{५०} ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के एक मन्त्र में विश्वमानवतावाद की दार्शनिक तथा

४१ युवो राष्ट्रे बृहदिन्विति द्यौर्यैसेतभिरज्जुभिः सिनीथिः। ऋग्वेद ७.८४.२

४२ राष्ट्र क्षत्रियस्य ऋग्वेद ४.४२.१

४३ ऋग् ७.३४.११

४४ ऋग्वेद १०.१०९.३

४५ यत्रानन्दाश्च मोदाश्च, मुदः प्रमुदः आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि ऋग्वेद ९.११३.११

४६ यत्र कामा निकामाश्च, स्वधा च यत्र तृप्तिश्च। ऋग्वेद-९.११३.१०

४७ यत्र ज्योतिरस्रग् यगानुकामं चरणम्। यत्रामूर्यद्वतीरापः ऋग् ९.११३.७-९ मन्त्र

४८ राष्ट्रणि वै विशः। ८.२६

४९ ऋग्वेद १०.१७४ सूक्त

५० संगच्छ्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथापूर्वं संजानाना उपासते।। ऋग्वेद १०.१६१

आध्यात्मिक दृढ़ भित्ति दृष्टिगोचर होती है।^{५१} वैदिक वाङ्मय में वर्णित राष्ट्रिय भावना, मातृभूमि भक्ति, समर्पण एवं कल्याण की भावनाओं को किसी राष्ट्रविशेष के लिए मान लेना उचित न होगा, अपितु विश्व के लिए अनुकरणीय है। विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण, मानवतावाद नैतिक साम्यवाद और समाजवाद मात्र वैदिकज्ञान से ही सम्भव है। वैदिक ऋषि ने राष्ट्र की प्रतिष्ठा का आधार ऋत को माना है। एक मन्त्र में ऋषि वरुण को सम्बोधित करते हुए कहता है - हे राजन्! आप ऋत से अनृत को दूर करते हुए मेरे राष्ट्र के आधिपत्य को प्राप्त करो।^{५२} यहाँ ऋत से तात्पर्य सत्य से है। क्योंकि सत्य ही व्यक्तिगत, राष्ट्रीय, सामाजिक, विश्वस्तरीय, मानवतावाद के नैतिक आदर्शों का एकमात्र मूलस्रोत है। मानव प्रेम के रूप में ईश्वर को सम्पूर्ण सृष्टि का बन्धु, भ्राता कहा गया है।^{५३} विश्वबन्धुत्व की भव्य भावना वेद में निहित हैं। विशाल भू-भाग को ही बन्धु कहा गया। अतः स्पष्ट होता है कि परस्पर सौहार्द तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का साक्षात् उदाहरण वेदों में परिलक्षित होता है। ऋग्वेद में समस्त राष्ट्रों के संकल्पों विचारों अभिप्रायों, में भी समानता (एकता) लाने के लिए स्तुति की गई।^{५४} यदि "स्वराष्ट्र का आदर्श" वेदों का प्रथम राजनीतिक सन्देश कहा जाए तो दूसरा सन्देश राजनीति का आदर्श है। क्योंकि जनमत को राज्य का आधार बनाना प्रजातन्त्र का ही निर्माण करता है। वैदिक काल में सभा, समिति, और विदथ का निर्माण हुआ।^{५५} सभा समितियों का उद्देश्य होता था कि विश (प्रजा) की इच्छाओं आकांक्षाओं, परम्पराओं और आदर्श के अनुसार कार्य करना चाहिए। राष्ट्र के हित अहित का उतरदायित्व सभा, समिति पर ही होता था। समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य होती थी।^{५६} समिति राष्ट्र की सुरक्षा और शान्ति व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होती थी।

ऋग्वेद के सूक्त में समिति की उपयोगिता के विषय में कुछ तथ्य दिए गये हैं।^{५७}

- (१) राष्ट्र सुरक्षा व्यवस्था तथा शत्रुनाशन^{५८}
- (२) राष्ट्रिय आय की व्यवस्था

५१ एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्। ऋग्वेद-८.५८.२

५२ ऋतेन राजन्नृतं विवित्रचन् मम राष्ट्रस्यधिपत्यमेहि। ऋग्वेद १०.१२४.५

५३ त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।

(१) सखा साखिभ्य ईडयः। ऋक् १.७५.४

(२) स्तुषे मित्रमिवप्रियम् ऋक् ८.८४.१

(३) समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेपाकम् ऋक् १०.१९१.३-४

५४ बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् १.१६४.३३

५५ ऋग्- १.३.३, ३८.२, ६.२४

५६ राजा न सत्यः समितिरियानः। ऋग् १०.९२.६

५७ आ वोऽहं समितिं ददे। ऋग् १०.१६६.५

५८ हतारं शत्रूणां कृधि। ऋग् १०.१६६.१

- (३) प्रजा का योगक्षेम^{५९}
 (४) विविध शिल्पों की उन्नति^{६०}

ऋग्वेद के अनुसार स्वराज्य के लिए अपरिग्रह तथा अहिंसा की परमावश्यकता है। यदि राष्ट्र का नेता अपरिग्रही हो तो स्वतः ही धन राष्ट्र के लिए कार्योपयोगी होगा। अहिंसा से ही पूर्ण स्वराज्य स्थापित किया जा सकता है। मानव सभ्यता तथा संस्कृति के इस भयंकर संक्रमण काल में नैतिक स्वराज्य के मन्त्र का क्रियान्वय आवश्यक है। ध्यातव्य है कि नियमों का अभाव अराजकता उत्पन्न करता है, केवल भय से नियम-पालन दासप्रवृत्ति है। सच्ची निष्ठा से कर्म-योग तभी व्यक्त होता है जब आत्मकल्याण तथा जनकल्याण को समक्ष रखकर कार्य किया जाए। इसी स्वराज्य का सन्देश दयानन्द, तिलक, गाँधी तथा अरविन्द ने राष्ट्र को दिया।

समस्त आधि व्याधियों की चिकित्सा, मात्र वैदिक आदर्शों के पालन से ही सम्भव है। तभी समुन्नत तथा विकसित वैदिकराष्ट्र जन्म ले सकता है।

सन्दर्भग्रन्थसूची -

१. ऋग्वेद संहिता- सायणभाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९७२
२. ऋग्वेद संहिता- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर भाष्य, स्वाध्याय मण्डल पारडी, १९६९
३. ऋग्वेद संहिता- दयानन्द भाष्य, दयानन्द संस्थान, दिल्ली
४. ऐतरेय ब्राह्मणम्- श्रीमद् सायणाचार्य विरचित भाष्य समेतम् (सम्पा.) शास्त्री काशीनाथ,
५. वैदिक दर्शन- आचार्य जयदेव वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. हरिद्वार, भारतीय विद्या प्रकाशन
६. वैदिक अर्थव्यवस्था- डॉ० महावीर, समानान्तर प्रकाशन ७/७ दरियागंज, नई दिल्ली।
७. वैदिक चिन्तन की धाराएँ - डॉ. गणेशदत्त शर्मा, अर्मिला प्रकाशन साहिबाबाद।
८. वेद परिचय- कृष्णलाल, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
९. वैदिक साहित्य और संस्कृति- डॉ. किरण कुमार, न्यू भारतीय बुक कॉपोरेशन, (भारत)।
१०. वेदों में राजनीतिशास्त्र- डॉ. कपिलदेव द्विवेदी विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही)।
११. वेदों में स्वराज्य की- सं. डॉ. उर्मिला रस्तोगी, जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, परिकल्पना दिल्ली।
१२. वाचस्पत्यम् (भाग-१-६) - चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रं. सं. १४ वाराणसी, १९६७।
१३. शब्दकल्पदुम् (भाग-१-५)- चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रं. सं.- ९४ वाराणसी, १९६७।
१४. उणादिकोश- परोपकारिणी सभा, अजमेर प्रकाशन।
१५. धर्मशास्त्र का इतिहास- पी. वी. काणे, भाग १ तथा २, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३०।
१६. वेदार्थ प्रवेशिका- सम्पूर्णानन्द भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६९।

५९ योगक्षेमं व आदाय। ऋग् १०.१६६.५

६० विश्वकर्मण धाम्ना। ऋग् १०.१६६.४

ब्रह्म-विषयक विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण

डॉ० कुलदीप कुमार

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, पी. जी. डी. ए. वी. महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

शोधसारांश -

भारतीय दर्शन के केंद्र में ब्रह्म की अवधारणा समाहित है, जो विविध दृष्टिकोणों और दार्शनिक मान्यताओं के माध्यम से परिभाषित होती है। वेदान्त, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध और जैन जैसे दर्शनों ने ब्रह्म के स्वरूप पर गहन विचार प्रस्तुत किए हैं। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निर्विशेष, नित्य और शाश्वत् चेतना के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि सांख्य दर्शन इसे प्रकृति और पुरुष के द्वैत में देखता है। योग दर्शन इसे चित्त की अवस्थाओं के पार जाकर अनुभव किया जाने वाला तत्त्व मानता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में ब्रह्म को परमाणुओं के संयोजन और सृष्टि के कारण रूप में प्रस्तुत किया गया है। मीमांसा दर्शन मुख्यतः वेदों की व्याख्या और कर्मकाण्ड के माध्यम से ब्रह्म की खोज करता है। वहीं बौद्ध दर्शन ब्रह्म के अस्तित्व को नकारते हुए शून्यता पर जोर देता है, और जैन दर्शन इसे जीव और अजीव के सिद्धान्त में समझाता है। इन सबका उद्देश्य मानव जीवन की समस्याओं का समाधान और मोक्ष की प्राप्ति है।

ब्रह्म का स्वरूप इन दर्शनों में भले ही भिन्न प्रतीत होता हो, लेकिन यह मानव अस्तित्व, चेतना, और सृष्टि के रहस्यों को समझने का एक प्रयास है। इन मान्यताओं में न केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण है, बल्कि यह तार्किकता और अनुभव के साथ गहराई से जुड़ी हुई है।

यह शोध विभिन्न दार्शनिक परंपराओं में ब्रह्म की समझ के भीतर अन्तर्निहित समानताओं और भिन्नताओं को रेखांकित करता है। इसके अतिरिक्त, यह इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास करता है कि क्या ब्रह्म की अवधारणा केवल आध्यात्मिक अनुभव तक सीमित है या इसका समाज, संस्कृति और विज्ञान पर भी प्रभाव है। शोध यह दिखाता है कि ब्रह्म केवल धार्मिक विचार नहीं है, बल्कि जीवन, अस्तित्व और चेतना की मूलभूत संरचना है।

कूट शब्द -

ब्रह्म, अद्वैत, चित्त, प्रकृति, पुरुष, मोक्ष, शून्यता, आत्मा, शाश्वत्, वेदान्त, तर्क, चेतना, निर्विशेष, अनुभव, उपनिषद्।

जब ऋषि- मुनियों ने नानाविध आध्यात्मिक विषयक ज्ञान का चिन्तन किया तब अनुभव किया कि एक ऐसी शक्ति जो संसार का नियमन करती है, इस शक्ति को ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म शब्द 'बृहि वृद्धौ'^१ धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - बढ़ना, फैलना, व्यास होना। वृद्धिरूपी क्रिया जिस

१ पाणिनीय-धातुपाठ

धातु से निष्पन्न है, वह अतिशय अर्थ में प्रतीत होता है, अर्थात् जिसका निरतिशय महत्त्व है^२ - शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्तस्वभाव, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापकत्व, ब्रह्म प्रसिद्ध है।^३ प्रारम्भ में यह 'ब्रह्म' यज्ञ के लिये प्रयुक्त किया गया, किन्तु पश्चात् में यह सर्वव्यापी परमसत्ता का वाचक प्रसिद्ध हो गया। ब्रह्म परमतत्त्व है, वह जगत्कारण है। कठोपनिषद् में इसी तथ्य का विवेचन करते हुए कहा गया है कि -

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्पर्शाश्चमैथुनान् । एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ॥^४

अर्थात् जिस आत्मा के द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखों को निश्चयपूर्वक जानता है। इस लोक में इससे अतिरिक्त रह ही क्या जाता है? छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म को 'तज्जलान्'^५ शब्द से सम्बोधित किया गया है, अर्थात् ब्रह्म वह तत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, जिसमें वह अन्त में लीन होता है और जिसमें वह जीवित रहता है। तैत्तिरीय में भी ब्रह्म को जगत्कारण बताते हुए कहा है कि - भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवोस तपस्तप्त्वा ।।^६ अर्थात् जिससे यह सम्पूर्ण जड़ और चेतन स्वरूप संसार उत्पन्न हुआ है, जिसमें यह जीवित विद्यमान रहता है और पुनः जिसमें विलीन होता है, वह ब्रह्म है। ईशावास्य उपनिषद् में उसे परम ऐश्वर्यवान् तेजस्वरूप, शरीर रहित, शुद्ध, पाप-पुण्य से रहित, मनीषी, सर्वदृष्टा, सर्वत्र विद्यमान स्वयम्भु तथा अनादिकाल से भी प्राणियों के कर्मानुसार समस्त पदार्थों की रचना करने वाला परमतत्त्व के नाम से प्रख्यात किया गया है। ब्रह्म को उपनिषदों में नाम, रूप, रंग और काल की सीमा से रहित माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में उसे 'नेति-नेति'^७ कहकर वर्णित किया है। कठोपनिषद् में उसे अंगुष्ठमात्र बतलाया गया है और कहा है कि वह शरीर के मध्य में स्थित रहता है।^८ ईशोपनिषद् में कहा है- इस संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें ब्रह्म की सत्ता न हो अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् उस परम शक्ति से आच्छादित है।^९ ब्रह्म इस संसार का निमित्त और उपादान कारण है। संसार की उत्पत्ति, सृष्टि और विनष्टि का कारण ब्रह्म ही है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।

यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म तद् विजिज्ञासस्व ।

२ निरतिशयब्रह्मस्वरूपो आत्मा विजिज्ञापयिषितः, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद्रमुपासते०' । केनोपनिषद्, शांकरभाष्य, १.५

३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १.१.१

४ कठ. उप. २.१.३

५ सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।

अथ खलु ऋतुमयः पुरुषो यथाऋतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स ऋतुं कुर्वति ।। छान्दोग्य, ३.१४.१

६ तैत्तिरीय, ३.१.१

७ बृहदारण्य०, उप०, ३.९.२६

८ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वैतत् ॥ कठ०, २.१.१२

९ ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य सिद्धनम् ॥ ईशोपनिषद् १.

तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि के विकास को पंचकोषों के माध्यम से ज्ञात कराने का प्रयास किया गया है।^{१०} प्रथम अन्नमय कोश है। यह जड़द्रव्य या भौतिक पदार्थ का स्तर है। यह ब्रह्म का निम्नतम रूप है, जहाँ चैतन्य सुप्त होने से लुप्तमान् प्रतीत होता है। इससे ऊपर प्राणमय कोश का स्थान है, इसमें चैतन्य का स्फुरण प्रारम्भ होता है। यह वनस्पतिजगत् का स्तर है। इससे ऊपर मनोमय कोश का स्थान है। यहाँ चैतन्य मनोजगत् के रूप में प्रस्तुत होता है। यह इन्द्रिय-सम्बेदन और बुद्धि की प्रथमावस्था का स्तर है, जहाँ ज्ञान सहज-प्रवृत्तिजन्य है। यह पशु और मानव का सम्मिलित निद्रा, आहार, भय, क्रोध, मैथुनादि का स्तर है, इससे ऊपर विज्ञानमय कोश का स्थान है, जिसमें केवल मानव का ही अधिकार है। यह सविकल्पबुद्धि, तर्क, मनीषा और विविध ज्ञान-विज्ञान का स्तर है। इसके बाद सर्वोच्च आनन्दमय कोश है, यहाँ ब्रह्म के सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप का स्फुरण है। इस अखण्ड ब्रह्मानन्द की अनुभूति समाधि में होती है। यह निर्विकल्प प्रज्ञा का स्तर है, किन्तु 'कोश' होने के कारण इसमें विकल्प का लेश रहता है। आनन्दमय का अर्थ 'प्रचुर आनन्द' न होकर 'आनन्दरूप' है। वस्तुतः ब्रह्म इन पंचकोषों के भी पार है। निर्विशेष, निर्गुण और अनिर्वचनीय ब्रह्म का नित्य और अखण्ड आनन्द के रूप में साक्षात् निर्विकल्प अनुभव किया जा सकता है।

महर्षि दयानन्दानुसार - जो सम्पूर्ण जगत् की रचना कर, उस जगत् को बढ़ाता है, उस परमेश्वर का नाम ब्रह्म है और सबसे वृद्ध है इसलिए भी वह ब्रह्म है।^{११}

केनोपनिषद् में ब्रह्मविषयक चिन्तन को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि - यह हमारा मन किससे प्रेरित होकर अभीष्ट विषय को प्राप्त होता है, और किससे सब इन्द्रियों से प्रथम अपने कर्म में नियत होता हुआ प्राण-वायु रूपी अपने व्यापार को करता है, और किससे प्रेरित इस वाणी को मनुष्य लोग बोलते हैं, और नेत्रेन्द्रिय तथा कर्णेन्द्रिय को कौन प्रसिद्ध प्रकाशकदेव अपने-अपने विषय के ग्रहण करने में प्रथम उत्पत्ति समय में नियुक्त करता है।^{१२} अर्थात् सार रूप में हम कह सकते हैं कि सब कुछ करने वाला एक वह ब्रह्म ही है, अन्य कोई दूसरा नहीं।

केनोपनिषद् में भी विवेचना करते हुए कहा गया है कि - जो कर्णेन्द्रिय का श्रोत्र अर्थात् श्रवण-शक्ति देने वाला है, सुख-दुःखादि ज्ञान के साधन अन्तःकरण का मन अर्थात् मनन शक्ति देने वाला, वाणी का निश्चय से वाणी अर्थात् बोलने की शक्ति देने वाला है, चक्षु का चक्षु अर्थात् दर्शन शक्ति देने वाला है, उसको निश्चय से ध्यानी लोग सब पदार्थों से पृथक् समझकर अथवा इन्द्रियों के सुखों से पृथक् रहकर इस मृत्युलोक से मरकर, पृथक् होकर मरणधर्म-रहित हो जाते हैं।^{१३} केन उपनिषद् में भी ब्रह्म को और अधिक दृढ़ रूप से विश्लेषण कर

१० तैत्तिरीय, ३ वल्ली

११ योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति वर्धयति स ब्रह्मा, सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म । -सत्यार्थ प्रकाश, प्रथमसमुल्लास, पृ० २७, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, संस्करण

१२ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ।। केनोपनिषद्-१.१

१३ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः । चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।। केनोपनिषद्-१.२

विवेचन किया गया है — जो वाणी से प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी ही प्रकाशित होती है, उसी को तुम ब्रह्म समझो अर्थात् देशकालावच्छिन्न वस्तु की इस जगत् में प्राणी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं होता।^{१४}

महर्षि दयानन्द सरस्वती केनोपनिषद् के आधार पर इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि — जो वाणी की इदन्ता अर्थात् यह जल है, लीजिए वैसा विषय नहीं और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है, उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और जो उससे भिन्न है, वह उपासनीय नहीं।^{१५}

“यह तो अणु से भी अणुतर है और महान् से भी महत्तर आत्मा जीव की हृदय रूपी गुफा में स्थित है। निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोक रहित हो जाता है।” यही कठोपनिषद् का सिद्धान्त है।^{१६}

भारतीय तत्त्वज्ञान उपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है। यद्यपि ‘मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्’ इस प्रमाण के अनुसार मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है, तथापि वेद के अन्तिम भाग होने से उपनिषदों को वेद का शिरोभाग माना जाता है। उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन दो रूपों में मिलता है— ब्रह्म के विषय में सविशेष श्रुतियाँ और निर्विशेष श्रुतियाँ दोनों उपलब्ध हैं। ब्रह्म को सविशेष—सगुण भी कहा गया है तथा निर्विशेष—निर्गुण भी। सगुण ब्रह्म को ‘अपर’ ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म को ‘पर’ ब्रह्म कहा गया है। अपर रूप में ब्रह्म सविशेष, सगुण, सप्रपञ्च, सविकल्प और सोपाधिक है, तथा पर रूप में ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण, निष्प्रपञ्च, निर्विकल्पक और निरुपाधिक है। अपर ब्रह्म को ‘ईश्वर’ की संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है, जो समस्त विश्व के कर्ता, धर्ता, हर्ता और नियन्ता हैं। ब्रह्म का पररूप अगोचर, निर्विकल्पक, अनिर्वचनीय है और केवल अपरोक्षानुभूतिगम्य है। परब्रह्म का यथार्थ रूप शुद्ध चैतन्य है; जो समस्त व्यवहार, समस्त ज्ञान, समस्तानुभव का एकमात्र स्थान होते हुए भी उससे परे है। इसीलिए ब्रह्मवेत्ताओं ने दो विद्याओं को जानने योग्य माना है, एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या।^{१७}

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।^{१८}

श्वेताश्वेतरोपनिषद् में कहा गया है - निर्विशेष होने से वह किसी विशेषण से विशिष्ट नहीं हो सकता। निर्गुण होने से कोई गुण उसे निर्दिष्ट नहीं कर सकता। अतीन्द्रिय, निर्विकल्पक, निरुपाधि और अनिर्वचनीय ब्रह्म इन्द्रिय, बुद्धि-विकल्प और वाणी द्वारा ग्राह्य नहीं है। जो शुद्ध द्रष्टा, साक्षी, विषयी है, वह बौद्धिक ज्ञान का, किसी चित्त-वृत्ति का ‘विषय’ नहीं बन सकता। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं की इन्द्रिय-बुद्धि-वाणी-ग्राह्य न होने से ब्रह्म ‘शून्य’ या ‘अभावरूप’ है। समस्त व्यवहार का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है।

१४ यद्वाचानम्युदितं येन वागम्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।। केन० १.४

१५ सत्यार्थ० ३०९ पृ०

१६ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।। कठ.उप.१.२.२०

१७ तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यत्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।। मुण्डकोप.-१.१.४

१८ श्वेता.उप.-६.१९

उसका निषेध असम्भव है, क्योंकि निषेध में भी निषेध-कर्ता के रूप में उसी ब्रह्म की सत्ता प्रकाशित हो रही है। कहा भी है कि “य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। निषेधशेषो जयतादशेषः”। ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति होती है, वह स्वानुभूतिगम्य है, ब्रह्म बनकर ही ब्रह्म को जाना जा सकता है।^{१९} निर्विशेष और अनिर्वचनीय ब्रह्म का वर्णन यदि करना ही है, तो निषेधमुख से करना चाहिए। यह आत्मा ‘नेति नेति’ है। ब्रह्म के विषय में आदेश ‘नेति नेति’ है।^{२०} ब्रह्म अमात्र, अक्षर, अद्वैत, निर्विशेष, निर्गुण, निर्विकल्पक, निरुपाधि, अनिर्वचनीय है। वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, असंग है। वही ब्रह्म आगे है, नीचे है, ऊपर है और आगे है। सर्वत्र व्याप्त है।^{२१} वाणी और मन की पहुँच ब्रह्म तक नहीं है, ब्रह्म को न पाकर वाणी और मन लौट आते हैं।^{२२} उसमें न रस है, न गन्ध है, न स्पर्श है, न वाणी है, न मन है, न अन्दर है, न बाहर है, न वह कुछ खाता है और न उसे कोई खा सकता है।^{२३} ब्रह्म की प्राप्ति इन्द्रियों द्वारा नहीं की जा सकती। इसके दो कारण हैं, प्रथम तो इन्द्रियाँ उसी वस्तु को देख सकती हैं, उसी का श्रवण कर सकती हैं, मनन कर सकती हैं, वर्णन कर सकती हैं, जिसका आकार हो या प्रत्यक्ष होता हो किन्तु ब्रह्म एक निराकार शक्ति है, जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिए वह इन्द्रियों के द्वारा अप्राप्य है। द्वितीय कारण इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं और ब्रह्म शक्ति अन्तर्मुखी है। यदि कोई व्यक्ति इन्द्रियों को विषय वासनाओं से समाप्तकर अन्तर्मुखी बनाकर अपने अन्दर उस शक्ति का अनुभव करने का प्रयास करता है और जो इसमें पूर्ण सफल होता है, वह अमृतत्व की प्राप्ति करता है।

अनुपहित ब्रह्म शुद्ध अर्थात् सर्वविध अशुद्ध रहित है। ब्रह्मानन्द ने शुद्ध की व्याख्या की है कि “ ब्रह्म रागद्वेषादि अशुद्धि से रहित है”। ब्रह्म परमार्थ, सुख, शरीराद्युपाधिक दुःख, काम, क्रोध, मोह, लोभ, ईर्ष्या, द्वेषादि अशुद्धियों से सर्वथा रहित है।^{२४}

आचार्य शंकर ने चैतन्य तत्त्व को एक ही अर्थात् ‘ब्रह्म’ को माना है। आचार्य शंकर कहते हैं कि यह जो हमें विश्व दिखायी दे रहा है, यह सब उसी चेतना अर्थात् ब्रह्म से व्याप्त है। ब्रह्म ही एक ऐसा चैतन्य तत्त्व है, जिसका कोई चैतन्य गुण नहीं, अपितु स्वभाव है। इसलिए चैतन्य का कोई अधिकार नहीं होता। यह जो हमें संसार दृष्टिगत होता है, उसकी निर्विकल्प, निरुपाधिक निर्विकार, व्यापक चेतना सत्ता का नाम ब्रह्म है। “बृहत्तमत्वात् ब्रह्म या बृहत्तात् ब्रह्म”^{२५} - अर्थात् जो बृहत्तम है, वही ब्रह्म है। भारतीय मान्यताओं के अनुसार ब्रह्म

१९ ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डकोपनिषद् ३.२.९; ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। बृहदारण्यक, ४-४-६

२० स एष नेति आत्मा। बृहदारण्यक, ४-४-२२

२१ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। मुण्डकोप.-२.२.११

२२ केन० १-४ से ८

२३ बृहदारण्यक, ३-८-८

२४ शुद्ध.....रागद्वेषाद्यशुद्धिरहितम्। न्यायरत्नावली, पृ०८

२५ बृहत्तमत्वात् ब्रह्म या बृहत्तात् ब्रह्म। शांकरभाष्य, प्रस्तावना

सर्वत्र व्यापक है। वह सम्पूर्ण विश्व के कण-कण में व्याप्त है। एक छोटे से कण से लेकर हिमालय पर्यन्त तथा चीटी से लेकर हाथी पर्यन्त प्रत्येक में विराजमान है। उस ब्रह्म की इस व्यापकता के कारण ही उसके स्वरूप को वेदों, उपनिषदों, दर्शनों तथा आयुर्वेदिक ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से निरूपित किया गया है।

निष्कर्ष -

अतः ब्रह्म का स्वरूप भारतीय दर्शन में एक अत्यंत महत्वपूर्ण और गहन चर्चा का विषय है। विभिन्न दार्शनिक परंपराओं ने इसे अपने-अपने दृष्टिकोण से समझने और व्याख्या करने का प्रयास किया है। निष्कर्षतः, यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म भारतीय चिंतन परंपरा का केंद्रबिंदु है, जिसे प्रत्येक दार्शनिक दृष्टि ने अपनी अवधारणाओं, संदर्भों और विश्लेषण के माध्यम से परिभाषित करने की कोशिश की है।

दर्शन के विभिन्न विद्यालयों में ब्रह्म को कभी सगुण, कभी निर्गुण और कभी दोनों के समन्वय के रूप में देखा गया है। अद्वैत वेदांत के अनुसार, ब्रह्म अद्वितीय, निराकार, और अनंत है। शंकराचार्य ने इसे एकमात्र सत्य और सृष्टि का आधार माना। उनके अनुसार, संसार मिथ्या है और ब्रह्म ही परम वास्तविकता है। वहीं, द्वैतवाद में ब्रह्म को ईश्वर रूप में स्वीकार करते हुए इसे जीव और प्रकृति से भिन्न माना गया है।

विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म को एक व्यक्तिगत, सगुण ईश्वर के रूप में देखा गया, जो जीवों और जगत का सहारा है। रामानुजाचार्य ने इसे सभी प्राणियों का आधार और उनके कल्याण का कारण बताया। शुद्धाद्वैत में, वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को प्रेम और भक्ति का स्रोत माना। द्वैताद्वैत में, निम्बार्क ने इसे भिन्न और अभिन्न रूप में देखा।

योग दर्शन ने ब्रह्म को ध्यान और समाधि के माध्यम से अनुभव करने की स्थिति माना। पतञ्जलि के अनुसार, जब चित्त की वृत्तियां समाप्त होती हैं, तो ब्रह्म का अनुभव होता है। सांख्य दर्शन ब्रह्म को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करता, लेकिन पुरुष और प्रकृति के संबंध में इसके महत्व को स्वीकार करता है।

मीमांसा और न्याय जैसे तर्क आधारित दर्शन ने ब्रह्म के स्वरूप को एक सिद्धान्त या परम सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। मीमांसा ने ब्रह्म को कर्मकांडों के आधार पर समझने की कोशिश की, जबकि न्याय ने इसे एक तर्कसंगत आधार पर व्याख्या की।

भारतीय दार्शनिक मान्यताओं में यह दृष्टिकोण सामान्य है कि ब्रह्म सत्य का उच्चतम और अनिर्वचनीय रूप है। इसका स्वरूप प्रत्येक दार्शनिक परंपरा में अलग-अलग होते हुए भी, सभी ने इसे मानव जीवन के अंतिम लक्ष्य और अस्तित्व की परम सत्यता के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार, ब्रह्म का स्वरूप, चाहे वह सगुण हो या निर्गुण, एक ऐसी सत्ता के रूप में उभरता है, जो न केवल सृष्टि का कारण है, बल्कि उसके अस्तित्व और ज्ञान का स्रोत भी है। यह दार्शनिक मत भले ही विविध हों, परन्तु उनकी एकता इस तथ्य में है कि ब्रह्म को वे सभी किसी न किसी रूप में जीवन का अन्तिम उद्देश्य मानते हैं।

सर्वानुक्रमणीबृहदेवतादिषु विषयोऽयं सविस्तरं वर्णितः तथापि महर्षिदयानन्ददृष्ट्या विषयोऽयमत्र यथामति समुपस्थाप्यते ।

कथं दयानन्दस्य देवताविषयकं विचारं सर्वे विद्वांसः पृथक्त्वं नूतनत्वं चोद्घोषयन्ति इति चेदुच्यते, सामान्यतया महर्षिदयानन्दानुसारं यो गच्छति गम्यते वा स देवः इति।^३ अर्थात् सर्वत्र व्याप्तिमत्त्वात् ज्ञातव्याच्च तस्य परमेश्वरस्य नाम 'देवः' इति। अनन्तरं ये दिव्यपदार्थाः विद्वांसश्च सन्ति तेऽपि गुणकर्मस्वभावाद् देवतारूपेण वर्णिताः। अतस्तेनोक्तं “ये दिव्याः पदार्था विद्वांसश्च सन्ति ते दिव्यगुणकर्मस्वभावाद् देवतासञ्ज्ञां लभन्ते”।^४ देवतासुरराक्षसादयः केचन कालपनिकपात्रविशेषाः न सन्ति अपि तु मनुष्येषु एव देवासुरराक्षसादयः सन्ति। अत एव तेन भणितं यत् ते एव असुराः दैत्याः राक्षसाः पिशाचाः दुष्टाः मनुष्याः ये आत्मनि अन्यद् वाचि अन्यत् कर्मणि अन्यद् आचरन्ति। ते न कदाचिद् अविद्यादुःखसागराद् उत्तीर्य आनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति। ये च यदात्मना तन्मनसा यन्मनसा तद्वाचा यद्वाचा तत्कर्मणा अनुतिष्ठन्ति ते एव देवाः आर्याः सौभाग्यवन्तः अखिलं जगत् पवित्रयन्त इमामुत्रातुलं सुखम् अश्रुवते।^५ शतपथब्राह्मणानुसारेण यो मनुष्यः सत्यरूपव्रतम् आचरति तस्य देवः इति संज्ञा भवति। किन्तु योऽसत्यरूपव्रतम् आचरति स मनुष्यः कथ्यते। अतो ब्राह्मणेऽस्मिन् एवं वाक्यं समुपलभ्यते – “सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। एतद् वै देवाः व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्”।^६ विषयेऽस्मिन् महर्षिणापि निगदितं यत् मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां देवमनुष्यभेदेन द्वे एव संज्ञे भवतः। तत्र सत्यानृतरूपेण कारणद्वयम् अस्ति। यः सत्यवचनं सत्यग्रहणं सत्यकर्म च करोति स एव देवस्तथैव योऽनृतवचनम् अनृतग्रहणम् अनृतकर्म च करोति स खलु मनुष्यः। एवं यो मनुष्योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यम् आचरति स देवरूपेण गण्यते। यश्च सत्यं त्यक्त्वा अनृतम् आचरति स मनुष्यः।^७ परमेश्वरस्य आज्ञापालनम् अपि देवत्वमुच्यते। विषयेऽस्मिन् महर्षिणा यजुर्वेदभाष्ये प्रोक्तं “हे मनुष्याः! योऽखिलकार्यकर्ता परमात्मा कारणात् कार्याणि निर्मिमीते सकलस्य जगतः शरीराणां रूपाणि विदधाति तज्ज्ञानं तदाज्ञापालनमेव देवत्वमस्तीति जानीत”।^८

कर्मकाण्डे यज्ञप्रक्रियायां वा महर्षिणा देवताशब्देन मुख्यतया वेदमन्त्राणां ग्रहणं कृतम्। यतो हि यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि ते एव वेदमन्त्राः कथ्यन्ते। वेदमन्त्रैरेव सर्वासां विद्यानां द्योतकत्वात् मन्त्राः देवतात्वेन उच्यन्ते। येषु मन्त्रेषु अश्यादयः शब्दाः सन्ति तेषां मन्त्राणां तेषां शब्दानां चार्थाः अश्यादिदेवतानामभिः गृह्यन्ते। इत्थं वातः सूर्यश्चन्द्रमाः वसवो रुद्राः आदित्याः मरुतो विश्वेदेवादिशब्दयुक्ताः मन्त्राः देवताशब्देन गृह्यन्ते। एवं

३ सरस्वती, दयानन्द। सत्यार्थप्रकाश। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्टः दिल्ली। २०१०। (७३rd Ed.) स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश। पृष्ठ संख्या - ४७७

४ दयानन्दस्य यजुर्वेदभाष्यम् - १४.२०

५ तदेव - ४०.३

६ शतपथब्राह्मणम् - १.१.१.४-५

७ सरस्वती, दयानन्द। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्टः दिल्ली। १९९८। (७th Ed.) पञ्चमहायज्ञविषयः। पृष्ठ संख्या - १९७

८ दयानन्दस्य यजुर्वेदभाष्यम् - ३१.१७

वेदमन्त्रैः समेषाम् अर्थानां यथावत् द्योतकत्वात् मन्त्राणां 'देवता' इति नामकरणम् ।^१ तत्र मन्त्रार्थोऽपि देवताशब्देन उद्घोषितः । "यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देन अभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाशयते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्" ।^{१०} तद् व्यतिरिच्य यास्काचार्यस्य "कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" इत्यस्य वाक्यांशस्य व्याख्यानावसरे महर्षिणा मन्त्रमन्त्रार्थयोरपि देवतारूपेण वर्णनं निरूपितम् । यतो हि वेदमन्त्रैरग्निहोत्राद् अश्वमेधपर्यन्तानां सर्वेषां यज्ञानां शिल्पविद्यासाधनानां च सम्पत्तिः भवति, तथा च तैर्वेदमन्त्रैः कर्मसम्पत्तिः मोक्षलाभः परमेश्वरप्राप्तिश्च भवति, तस्मात् मन्त्रो मन्त्रार्थश्च देवताशब्देन स्वीक्रियेते ।^{११} ततो दयानन्दानुसारेण अग्निहोत्रं शिल्पविद्या योगविज्ञानं चापि देवतात्वेन वर्णितम् । विषयेऽस्मिन् महर्षिणा कथितं यद् येषु येषु मन्त्रेषु विशेषार्थो न दृश्यते तत्र यज्ञादयो देवतारूपेण विज्ञेयाः । 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यस्य मन्त्रस्य भाष्ये यः त्रिविधयज्ञः लिखितोऽस्ति सा एव तेषां मन्त्राणां देवता भवति । तत्र भाष्ये उल्लिखिताः त्रिविधाः यज्ञा एव सन्ति-

अग्निहोत्रादश्वमेधपर्यन्तम् ।

प्रकृतितत्त्वात् पृथिवीपर्यन्तं रचनात्मकं जगत् शिल्पविद्या च ।

सत्सङ्गादियज्ञविज्ञानं योगरूपयज्ञं च ।

तत्पश्चाद् यज्ञे मन्त्रपरमेश्वरौ उभौ देवतारूपेण कथितौ । तेन विजल्पितं "गायत्र्यादिच्छन्दोऽन्विता मन्त्रा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञाङ्गः प्रजापतिः परमेश्वरः नराः कामः विद्वान् अतिथिः माता पिता आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति । परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः" ।^{१२} यास्काचार्यानुसारं मन्त्रार्थप्रकाशस्याधारः स पदविशेषो भवति यस्य मन्त्रे मुख्यतया स्तुतिः क्रियते ।^{१३} इत्थं मन्त्रस्य पदविशेष एव देवतारूपेण वर्णितः, किन्तु मन्त्रेषु पदविशेषं व्यतिरिच्य अन्यान्यपि बहूनि पदानि भवन्ति । अत एव आचार्येण यास्केन पुनः स्पष्टरूपेण कथितं यत् "यत्काम ऋषिर्वस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदैवतः स मन्त्रो भवति" ।^{१४} एवं यास्कदृष्ट्या मन्त्राणां प्रतिपाद्यविषयरूपेण देवता वर्णिता, किन्तु मन्त्रमन्त्रार्थद्वयस्य प्रतिपादकत्वाद् देवता नास्ति । महर्षिणा विषयोऽयमेवं वर्णितः - "ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति

९ सरस्वती, दयानन्द । ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका । आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्टः दिल्ली । १९९८ । (७th Ed.) वेदविषयविचारः । पृष्ठ संख्या - ४४

१० तदेव - प्रश्नोत्तरविषयः । पृष्ठ संख्या - १६८

११ अत्राह यास्काचार्यो निरुक्ते - 'कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' । । निरु. १.२. अस्यार्थः (कर्मसं.) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च सम्पत्तिः सम्पन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते । तथा च कर्मणां सम्पत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्च अङ्गीकार्यः । ऋ.भा.भू. वेदविषयविचारः ।

१२ सरस्वती, दयानन्द । ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका । आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्टः दिल्ली । १९९८ । (७th Ed.) वेदविषयविचारः । पृष्ठ संख्या - ४६

१३ यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तदैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तदेव - वेदविषयविचारः । पृष्ठ संख्या - ४४

१४ निरुक्तम् - ७.१

स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तदेवतो भवति। किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणदैवतं प्रकाश्य येन भवति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते”^{१५} अत्र कथनस्याशयोऽस्ति यद् यथा कामनाभिधायकत्वात् पदविशेषो देवतात्वेन उच्यते तथैव अर्थाभिधायकत्वात् मन्त्रोऽपि देवतानाम्ना उल्लिखितः। वस्तुतो विषयस्य प्रतीतिः देवताद्वारा भवति देवतायाश्च प्रतीतिः मन्त्रमन्त्रार्थाभ्यां जायते। अतो लाक्षणिकरूपेण मन्त्रमन्त्रार्थौ उभौ देवतारूपेण कथितौ। महर्षिणा अभिधायकस्य आश्रयेण पदविशेषं देवतारूपेण मन्यते। तेनैवाधारेण मन्त्रमन्त्रार्थद्वयमपि देवतारूपेण मन्यते।

पुनः महर्षिणा देवताशब्दस्य यास्काचार्यस्य “देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा”^{१६} इत्येतेषां निर्वचनानां व्याख्यानावसरे लिखितं यद् अत्र दानशब्देन दानहेतुत्वाद् ईश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञकाः सन्ति। दीपनशब्देन द्रव्यानां प्रकाशकत्वात् सूर्यादयो देवाः देवतारूपेणोल्लिखिताः सन्ति। द्योतनशब्देन सत्योपदेशादिदानात् मातृपित्राचार्यातिथयश्च देवतारूपेण समुल्लिखिताः सन्ति। तथैव सूर्यादिप्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात् परमेश्वर एवात्र एको मुख्यो देवोऽस्ति।^{१७} महर्षिदिशा न केवलं मातृपित्राचार्यादय एव देवतारूपेण वर्णिताः सन्ति, अपि तु इन्द्रियाण्यपि देवतारूपेण वर्णितानि सन्ति। तत्र यजुर्वेदस्य “नैनद्देवा आमुवन्पूर्वमर्शत्”^{१८} इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे मन्त्रे उल्लिखितेन देवशब्देन श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां ग्रहणं कृतम्। यानि मनश्चक्षुकर्णजिह्वानासिकात्वगाख्यानि सन्ति तान्येव षडिन्द्रियाणि सन्ति। तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोः चार्थानां द्योतकत्वात् तेषां देवता इति नामकरणम्।^{१९} मुख्यगौणयोर्देवताविषये महर्षिणा कथितं यत् ज्ञानकर्मोपासनाकाण्डेषु सर्वेषां मुख्य एक इष्टदेवः परमात्मा एव। तस्यैव स्तुति-प्रार्थना-पूजोपासनादयः करणीयाः। यस्मात् गुणास्ते भवन्ति, यैः कर्मकाण्डादिषूपकारो भवति, किन्तु सर्वत्र कर्मकाण्डेऽपि इष्टभोगप्राप्त्यर्थं परमेश्वरस्य त्यागो न भवति, यतो हि कार्यकारणसम्बन्धाद् ईश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनादिभिः पूजा करणीया। विषयेऽस्मिन् निरुक्तस्यापि प्रमाणमस्ति यत् सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां कदापि उपासना न कर्तव्या। तत्र एकस्य परमेश्वरस्यैवोपासना कर्तव्या। अन्ये ये देवाः सन्ति ते सर्वे एकस्य परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। तस्यैव सामर्थ्यात् प्रकाशिताः भवन्ति। अतः सर्वेषां देवानां स एव उत्पादको धाता

१५ सरस्वती, दयानन्द। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्टः दिल्ली। १९९८। (७th Ed.) वेदविषयविचारः। पृष्ठ संख्या - ४५

१६ निरुक्तम् - ७.१५

१७ सरस्वती, दयानन्द। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्टः दिल्ली। १९९८। (७th Ed.) वेदविषयविचारः। पृष्ठ संख्या - ४६

१८ यजुर्वेदः - ४०.०४

१९ नैनद्देवा आमुवन्पूर्वमर्शत्।। यजुर्वेदः - ४०.०४ अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां

सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः। यो देवः सा देवता, देवात्तल् (अष्टा. ५.४.२७) इत्यनेन सूत्रेण स्वार्थे 'तल्' विधानात्। ऋ.भा.भू. वेदविषयविचारः। पृष्ठ संख्या - ४७

अधिष्ठाता च विद्यते। तस्मात् परम् अन्यत् किञ्चिदपि उत्तमं वस्तु नास्ति। अतः स एव खलु निश्चयेन उपास्यः, न तु अन्यः इति भावः।

यद्यपि महर्षिदयानन्दानुसारं मुख्य इष्टदेव एकः परमेश्वर एव तथापि तेन वेदमन्त्रानुसारेण गौणदेवतानां संख्या निर्धारिता। तत्र ऋग्वेदस्य “ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्”।^{२०} इत्यस्य मन्त्रस्य अनुसारेण देवतानां संख्या त्रयस्त्रिंशत् (३३) इति निश्चितम्। तत्र तेषां त्रयस्त्रिंशद्देवानां विभागो महर्षिणा शतपथब्राह्मणानुसारेण कृतः।^{२१} अष्टौ वसवः एकादशरुद्राः द्वादशादित्याः इन्द्रः प्रजापतिः चेति। तत्र अग्निः पृथिवी वायुः अन्तरिक्षः आदित्यः द्यौः चन्द्रमाः नक्षत्राणि चेत्येतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति।^{२२} प्राणोऽपानो व्यानः समान उदानो नागः कूर्मः कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः च इति इमे दश प्राणाः सन्ति, एकादशम आत्मा, सर्वे मिलित्वा एकादश रुद्राः सन्ति।^{२३} चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा आदित्याः सन्ति।^{२४} इन्द्रशब्दस्य अर्थः स्तनयित्नुः इति।^{२५} इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात् स्तनयित्नुः अशनिर्विद्युदिति महर्षिणोक्तम्। प्रजापतिशब्दस्य अर्थो यज्ञः।^{२६} प्रजापतिर्यज्ञः पशव इति। प्रजायाः पालनहेतुत्वात् पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकी संज्ञा कृतास्ति। एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्देवा भवन्ति। देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या ह्येतेषु व्यवहारिकमेव देवत्वं योजनीयमिति दयानन्दकथनम्।^{२७} तदनन्तरं महर्षिणा शतपथब्राह्मणानुसारेण^{२८} सप्तदेवतानां संख्या वर्णिता। त्रयो लोकाः, अन्नं, प्राणः, अध्यर्धः, ब्रह्म चेति। तत्र त्रयो लोकास्त्रयो देवाः। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः।^{२९} निरुक्तकारेणापि प्रोक्तं धामानि त्रीणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानीति।^{३०} ततो द्वौ देवौ अन्नं प्राणश्चेति प्रसिद्धौ।

२० ऋग्वेदः- ८.२८.१, यजुर्वेदः - १४.३१, अथर्ववेदः- १०.७.२३, १०.७.२७

२१ स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशदिति। शतपथब्राह्मणम् - १४.६.९.३

२२ कतमे वसव इति? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षमादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः। एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वासव इति। शतपथब्राह्मणम् - १४.६.९.४

२३ कतमे रुद्रा इति? दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान् मर्त्याच्छरीरादुक्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति। शतपथब्राह्मणम् - १४.६.९.५

२४ तदेव - १४.६.९.६

२५ स्तनयित्नुरेवेन्द्रः। तदेव - १४.६.९.७

२६ यज्ञः प्रजापतिरिति। तदेव - १४.६.९.७

२७ सरस्वती, दयानन्द। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्टः दिल्ली। १९९८। (७th Ed.) वेदविषयविचारः। पृष्ठ संख्या - ४९

२८ कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका, एषु हीमे सर्वे देवा इति। कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति। कतमोध्यर्ध इति? योऽयं पवत इति। शतपथब्राह्मणम् - १४.६.९.९

२९ तदेव - १४.४.३.११

३० निरुक्तम् - ९.२८

अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद् वायुर्देवः । सर्वाधारसर्वव्यापकादिविशेषणयुक्तं ब्रह्म अस्ति । इत्थं दयानन्दानुसारेण साकल्येन चत्वारिंशद्देवाः (अष्टौ वसवः + एकादशरुद्राः + द्वादशादित्याः + इन्द्रः + प्रजापतिः + त्रयो लोकाः + अन्नम् + प्राणः + अध्यर्धः + ब्रह्म = ४०) सन्ति । ते सर्वे चत्वारिंशद्देवाः उपासनायोग्याः न सन्ति, केवलं व्यवहारमात्रसिद्ध्यर्थं देवतारूपेण सन्ति । सर्वैर्मनुष्यैरुपासनायोग्यं तु केवलं ब्रह्म एव । तद् ब्रह्म सर्वजगत्कर्तृ सर्वशक्तिम् सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं सर्वव्यापकं सर्वाधारं सच्चिदानन्दस्वरूपं न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं चास्ति । ये जनाः ब्रह्मभूतस्य इष्टदेवस्य उपासनं कुर्वन्ति ते आर्याः सन्ति, किन्तु ये जनाः ब्रह्मभिन्नस्य इष्टरूपेण उपासनं कुर्वन्ति ते अनार्याः सन्ति । अत एव निराकारं ब्रह्म एव उपास्यम्, न तु अन्यत् ।

अन्यत्र दयानन्दानुसारं देवानां संख्या पञ्च इति समुपलभ्यते । तत्रापि स्वरूपदृष्ट्या स पञ्चविधो देवः द्विविधः ।^{३१} प्रथमं तावत् सशरीरः अपरश्च निःशरीरः । तत्र मातापितरावाचार्योऽतिथिः चेति चत्वारः सशरीराः देवाः सन्ति, किन्तु पञ्चमो देवः सर्वदा निःशरीरं ब्रह्म अस्ति । अनन्तरं दयानन्देन मूर्तरूपेण अमूर्तरूपेण मूर्तामूर्तरूपेण च देवताः त्रिविधाः वर्णिताः ।^{३२} तत्र पूर्वोक्तेषु अष्टसु वसुषु अग्निः पृथिवी आदित्यः चन्द्रमाः नक्षत्राणीति पञ्च मूर्तिरूपाणि सन्ति । तत्पश्चाद् एकादशरुद्राः द्वादशादित्याः मनः अन्तरिक्षः वायुः द्यौः मन्त्राः चेति अमूर्तरूपाणि सन्ति । ततः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि विद्युत् विधियज्ञः चेति मूर्तामूर्तरूपाणि सन्ति । तत्र उपर्युक्तानां पृथिव्यादीनां देवतानां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वमिति स्वीक्रियते तथैव मातृपित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं च एतावन्मात्रमेव, किन्तु सर्वेषां मनुष्याणामिष्टरूपेण उपास्यो देवः परमेश्वर एव ।

उपर्युक्तवर्णनेन स्पष्टरूपेण ज्ञायते यत् महर्षिदयानन्दस्य देवताविषयवर्णनं महीधरादिभ्यः भाष्यकृद्भ्यः पृथगस्ति । यतः महीधरादियजुर्वेदभाष्यकृद्भिः यजुःसर्वानुक्रमणीभूतस्य ग्रन्थस्य आश्रयेण सर्वत्र तत्तन्मन्त्रस्य देवता स्वीकृता, किन्तु दयानन्देन एवं न कृत्वा अनेकत्र सर्वानुक्रमणीतः पृथङ् मन्त्रेषु देवतानिर्देशः कृतः । उदाहरणरूपेण यजुःसर्वानुक्रमणीकारेण 'इषे त्वोर्जे त्वा'^{३३} इत्यस्य मन्त्रस्य देवता शाखा, वायुः इन्द्रश्च प्रतिपादितः । किन्तु दयानन्देन समग्रस्य मन्त्रस्य देवता 'सविता' इति निर्धारितम् । इत्थं वक्तुं पार्यते यत् दयानन्दः सर्वत्र सर्वानुक्रमण्याश्रितः नास्ति । अपि तु मन्त्रस्य देवतानिर्णयस्य आधारः मन्त्रेषु पठितपदस्य प्रतिपाद्योऽस्ति, मन्त्रस्य अर्थोऽस्ति । अर्थात् मन्त्रगतपदेषु मुख्यं प्रतिपाद्ययोग्यं पदं मन्त्रार्थश्च दयानन्ददृष्ट्या देवता अस्ति । यतो हि अर्थभिन्नत्वात् देवताभिन्नत्वं स्वाभाविकम् । एतदपि वक्तुं शक्यते यत् दयानन्देन मन्त्रार्थेषु यादृशी भिन्नता दृष्टा तादृशी

३१ तत्रापि मतद्वयं विग्रहव्यविग्रहवदेवताभेदात् । तन्नोभयं पूर्वं प्रतिपादितम् । अन्यच्च - मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।

(तैत्ति.आ. ५.११: तैत्ति.उप.अनु. ११) । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । (तैत्ति.उप.अनु. १.१) इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्च देवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्गुक्ताः । यथात्र मातापितरावाचार्योऽतिथिश्च सशरीरा देवताः सन्ति । एवं सर्वथा निःशरीरं ब्रह्मास्ति । ऋ.भा.भू. वेदविषयविचारः ।

पृष्ठ संख्या - ५२

३२ तदेव - वेदविषयविचारः । पृष्ठ संख्या - ५२

३३ यजुर्वेदः - १.१

तस्मात् पूर्वं केनापि आचार्येण न दृष्टा । अनेन निश्चीयते यत् दयानन्दस्य देवतादर्शनं भिन्नं वर्तते । महर्षिदयानन्दस्य वैशिष्ट्यमेतदपि अस्ति यत् यत्र सायणादिभाष्यकृद्भिः भिन्नदैवत्वं संगृह्य इन्द्राग्निप्रभृतीनां देवानां मन्त्रैः स्तुतिः क्रियते तत्र दयानन्ददृष्ट्या देवानां स्वतन्त्रसत्ता न विद्यते । उपास्यं देवभूतं केवलं ब्रह्म एव । अग्निविष्णुसूर्यादीनि विभिन्नानि सर्वाणि नामानि तस्य एकस्य ब्रह्मण एव । अर्थात् यत्र इन्द्रादिदेवतापदं स्तुतिरूपेण आयाति तत्र तस्य वाच्यः परमात्मा अस्ति । तथा च यत्र अग्निप्रभृतिना सांसारिकविज्ञान-कला-कौशलादिभौतिकोन्नतिविवक्षितम् अस्ति तत्र ते शब्दाः भौतिकाग्निप्रभृतयो वाचकाः सन्ति । महर्षिणा वैदिकशब्दानान्तु द्वौ अर्थौ विधास्येते । पारमार्थिकार्थो व्यवहारिकार्थश्च । यथा अग्निशब्दः पारमार्थिकदृष्ट्या परमेश्वररूपेण जीवात्मरूपेण जाठराग्निरूपेण च वर्णितः तथैव व्यवहारिकदृष्ट्या आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकप्रसङ्गेषु अग्निशब्दो वह्निरूपेण विद्युद्रूपेण सूर्यरूपेण विद्वद्रूपेण सभाध्यक्षरूपेण राजारूपेण सेनापतिरूपेण वैद्यरूपेण योगीरूपेण न्यायधीशरूपेण अध्यापकरूपेण उपदेशकरूपेण नेत्ररूपेण च वर्णितः । तथैव इन्द्रशब्दस्य सूर्यो वायुर्विद्युद्राजा सेनापतिः शूरवीरो विद्वान् गृहपतिरध्यापकः उपदेशकः कृषकः परमेश्वरो जीवात्मादयो बहुविधा अर्थाः सन्ति । अनेन एकेश्वरवाद एव तस्य अभिमतमिति प्रतिभाति । दार्शनिकदृष्ट्या त्रैतवादस्य प्रतिपादनम् अपि मन्त्रव्याख्यानेषु तेन सम्पादितम् । अन्ते वक्तुं शक्यते यत् समग्रशोधपत्रेऽस्मिन् देवताशब्दस्य विभिन्नार्थकत्वेन विचारो नूनं नूतनत्वम् उद्घोषयति । महर्षिदयानन्दस्य देवताविषयकं रहस्यात्मकं ज्ञानं ज्ञानान्तरात् प्रकृष्टं सर्वापेक्षया भिन्नं चेति कथयितुं पार्यते ।

Bibliography

१. Dwivedi, Kapildev. *Vaidika Sāhitya evam Saṁskṛti*. Varanasi : Vishvavidyalay Prakashan, २००८.
२. *Niruktam of Yāska*, Ed. by Chhajjuraam Shastri. New Delhi : Meharchanda Lachmandas Publication, २०१६.
३. *R̥gvedabhāṣyam*, Ed. by Maharshi Dayananda Sarasvati. Delhi : Manav Utthan Sankalpa Sansthan Gautam Nagar, २०१०.
४. Saraswati, Maharshi Dayananda. *R̥gvedādibhāṣya Bhūmikā*. Delhi : Arsha Sahitya Prachar Trust, १९९८.
५. Saraswati, Maharshi Dayananda. *Satyārtha Prakāśa*. Delhi : Arsha Sahitya Prachar Trust, २०१०.
६. *Śatapathabrāhmaṇam with commentary of Sāyaṇa*, Ed. by Nag Publication. Delhi : Javahar Nagar, १९३९.
७. *Śatapathabrāhmaṇam*, Ed. by Swami Satyaprakash. Delhi : Vijay Kumar Gobindaram Hasananda, २०१०.
८. *Taittirīyāranyakam*, Ed. by Jamuna Pathak. Varanasi : Chaukhamba Sanskrit series office, २०१४.
९. *Yajurveda kā Subodhabhāṣya*, Ed. by Sripad Damodar Satavlekar. Balsad: Swadhyay Mandal Pardi, १९८९.
१०. *Yajurvedabhāṣyam with commentary of Maharṣi Dayānanda Sarasvatī*, Ed. by Manav Utthan Sankalpa Sansthan. Delhi : Gautam Nagar, २०१०.

वेदों में वर्णित सोम का स्वरूप

डॉ० प्रतिभा आर्या

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पृथिवी पर बहुत सी ऐसी चीजें हैं जिनका नाम पढ़ते-सुनते ही हर्ष, उल्लास, स्फूर्ति के भाव मानस पटल पर आने लगते हैं उनमें एक "सोम" भी है। सोम का नाम समक्ष आते ही अद्भुत शीलता, अपूर्व शान्ति, सौम्यता की अनुभूति होती है। "सोम" पद वेद के १२० सूक्तों में आया है। जिनमें लगभग सभी ऋग्वेद के ९ वें मण्डल में हैं। सामवेद के पूर्वाचिक में पावमान काण्ड सम्पूर्ण सोम का ही वर्णन करता है। सोम ओषधि के लिए भी प्रसिद्ध है।

सोम शब्द अनेक धातुओं से निष्पन्न है।

षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वादिगण) प्रसव उत्पत्ति और ऐश्वर्य अर्थ।^१

षुञ् अभिषवे (स्वादिगण)^२ निचोड़ना, षू प्रेरणे^३ (तुदादिगण)

इन तीन धातुओं से उणादिकोष की अर्तिस्तुसुहृसी... मन्^४ से मन् प्रत्यय करने पर बनता है।

उपर्युक्त तीन धातुओं के अर्थों के अनुसार इस सोम शब्द के ५० अर्थ वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों में किये गये हैं।

इनको आध्यत्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन विभागों में बांटा जा सकता है। सामान्य रूप से सोम को एक ऐसी ओषधि माना जाता है जिसे आर्यगण अपने यज्ञों में कूट पीस तथा छान कर देवताओं के लिये अर्पित करते थे तथा यज्ञ कर्ता ऋषि एवं यज्ञमान गण उसका पान करते थे। यज्ञों में इन्द्र देवता के लिए सोमपान का वर्णन वेदमन्त्रों में आया है।^५

व्याकरणिक दृष्टि से देखें तो सोम के साथ निचोड़ने का भाव अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। विभिन्न कारकों की निम्न व्युत्पत्तियों में निचोड़ने की क्रिया प्रयुक्त है।

१ सुनोति यः सः सोमः - जो सोम रस को निचोड़ता है। कर्ता

२ सूयते यः स सोमः - जिसको निचोड़ा जाता है। कर्म

३ सुनोति येन स सोमः - जिससे निचोड़ते हैं। -करण

१ धातुपाठ भ्वादिगण ६७४

२ धातुपाठ स्वादिगण १

३ धातुपाठ तुदादिगण ११७

४ उणादिकोष १.१४०

५ ऋग्वेद २.१२.१३

४ सुनोति यस्मिन् स सोमः - जिसमें निचोड़ता है। - अधिकरण

निरुक्त में आचार्य यास्क ने सोम का अनेकत्र उल्लेख किया है- “ओषधिः सोमः सुनाते यदेनमभिषुण्वन्ति।”^६ अर्थात् सोम ओषधि है, कौन सी? जिसका रस निकाला जाता है। निश्चय ही यास्क ने सोम को एक औषधि बताया है।

सोम शब्द के अर्थों पर विचार करते हैं-

- १ सोमः - सुवति ऐश्वर्यहेतुर्भवति^७ ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले या ऐश्वर्य का कारण बनाने वाले सब पदार्थ सोम शब्द से पुकारे जा सकते हैं।
- २ सोमः - भुञ् अभिषवे। जो व्यक्ति अभिषव करता है- लकड़ी से मेज, लोहे से कुदाल, मिट्टी से घडा बनाने वाले बड़ई, लुहार और कुम्हार सोम कहलाते हैं।
- ३ सोमः - भू प्रेरणे। प्रेरणा देने वाले परमात्मा, माता-पिता, गुरु, उपदेशक, राजा आदि सोम कहलाते हैं। और प्रेरणा ग्रहण करने वाले मनुष्य, सन्तान, शिष्य, श्रोता प्रजाजन भी सोम कहाते हैं।
- ४ सोमः - भु प्रसवैश्वर्ययोः। जिस वस्तु को उत्पन्न करने वाले अथवा किसी प्रकार का ऐश्वर्य सम्पादन करने वाले परमात्मा, राजा, माता-पिता, किसान, श्रमिक सब सोम हैं।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियों के आधार पर भिन्न-भिन्न कोषों में तथा वेद भाष्यकारों ने सोम के अनेक अर्थ किये हैं।

सोम का अर्थ ओषधि-

वैदिक साहित्य में सोम का ओषधियों के साथ विशेष सम्बन्ध बताया गया है। सोम को ओषधियों का राजा तक कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है- सौम्या ओषधयः^८। सोम ओषधीनामधिराजः^९। सोमो वै राजौषधीनाम्^{१०}। या ओषधीः सोमराज्ञीः^{११}। ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा^{१२}।

ब्राह्मण ग्रन्थों और वेद मन्त्रों में स्पष्ट ही ओषधियों का सोम सम्बन्धी होना, सोम का ओषधियों का राजा होना और ओषधियों का सोम राजा से संवाद करना मिल के रहना बताया गया है। आयुर्वेद में सोम को एक बड़ी प्रभावशाली ओषधि माना गया है। परन्तु सोम का ओषधि के अतिरिक्त भी कई नाम हैं। वेदों में सोम शब्द कहीं परमात्मा वाचक भी है तो कहीं सोम का अर्थ गुरुकुलों से विद्या प्राप्त स्नातक होता है।

६ निरुक्त ११.१.२

७ उणादिकोष १.१४०

८ शतपथ ब्राह्मण १२.१.१२

९ गोपथ ब्राह्मण १.१७

१० कौ. ४.१२

११ ऋ. १०.९७.१८-१९

१२ ऋ. १०.९७.२२

महर्षि यास्क ने निरुक्त में आधिदैविक अर्थ में प्रकाश अग्नि और पृथिवी का उत्पादक सोम को बताया है। महर्षि दयानन्द ने सोम का व्यापक अर्थ किया है। "सवत्यैश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः"।^{१३} सम्पूर्ण ऐश्वर्य का हेतु सोम को कहा है।

ऋग्वेद के ९वें मण्डल में ११४ सूक्त हैं और सभी सूक्तों का देवता पवमान सोम है। वहाँ सोम के भिन्न-भिन्न अर्थ दिये गये हैं।

सोम का अर्थ वीर्य भी है-

एतिर्ह्यध्वराणामग्रे दूतो विशामसि। उषर्बुध आ वह सोमपीतये देवां अद्य स्वर्दशः।।^{१४}

उषः जागरण, स्वाध्याय व देववृत्ति को अपनाने पर हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं, इस सोम का रक्षण होने पर हमारे जीवन में यज्ञात्मक कर्म चलते हैं और हम प्रभु के ज्ञान सन्देश को सुन पाते हैं।

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः।।^{१५}

इस मन्त्र में सोमपान का वर्णन है। मन्त्र में बताया गया है कि सोम ओषधि को कूट कर और उसका निकालकर पीने से जो व्यक्ति समझ लेता है कि मैंने सोमपान कर लिया है। वह सोमपान के अभिप्राय को ठीक नहीं समझ रहा होता है। ब्रह्मवेत्ताओं अर्थात् वेद वेत्ताओं के मत में सोमपान और ही वस्तु है।

सोम का अर्थ स्नातक - सोम का अर्थ सर्वत्र सोम नामक बूटी अथवा चन्द्रमा या कोई अन्य पदार्थ नहीं। ऋग्वेद के इस मंत्र में सोम का अर्थ स्नातक किया है। सोमा असृग्रम विश्वानि काव्या^{१६}

ये सोम सभी प्रकार के काव्यों अर्थात् गहरे ज्ञानों की रचना करते हैं। सोमः सुवीरः^{१७} सोम बड़ा उत्तम वीर है।

सोम का अर्थ न्यायाधीश - ऋग्वेद ७/१०४ और अथर्ववेद ८/४ सूक्तों में इन्द्र और सोम से राक्षसों अर्थात् प्रजापीडक दुष्कर्मा लोगों को दण्डित करके प्रजा जनों की रक्षा की प्रार्थना है। वहाँ सोम का अर्थ न्यायाधीश किया है-

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।

तयोर्यत्सत्यं यतरद्वजीयस्तदित्सोमोऽवति दन्त्यासत्।।^{१८}

अर्थात् - उत्कृष्ट विज्ञान को जानने वाले सोम नामक जन के पास सत्य और असत्य वचन अपनी-अपनी

१३ उणादि १.१४०

१४ ऋ. १.१४४.९

१५ अथर्व १४.१.३

१६ ऋ. ९.२३.१

१७ ऋ. ९.२३.५

१८ ऋ. ७.१०४.१२

विजय के लिए स्पर्धा करते हुए आते हैं, उनमें से जो सत्य है, सीधा- सरल है, उसकी सोम रक्षा कर लेता है, और जो असत्य है उसको मार देता है।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति ।^{१९} सोम पापकारी को बढ़ने नहीं देता है।

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन ।^{२०} इस मन्त्र में सम्राट् के लिए सोम शब्द आया है।

सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा^{२१} सोम हम ब्राह्मणों का राजा है।

सोम का अर्थ परमात्मा- वेदों में सोम परमात्मा परक अर्थ में सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के इस मन्त्र में सोम का अर्थ परमात्मा किया है -

सोमः पवते जनिता मतीनां जनितादिवो जनिता पृथिव्याः ।

जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः । ।^{२२}

सोम पवित्र करता है। वह मननशील बुद्धियों को उत्पन्न करने वाला है, द्युलोक को उत्पन्न करने वाला है। पृथिवि लोक को उत्पन्न करने वाला है, अग्नि को उत्पन्न करने वाला है, सूर्य, इन्द्र और विष्णु को उत्पन्न करने वाला है।

सोम करारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा । मर्य इव स्व ओक्थे । ।^{२३}

हे सोम! अर्थात् हे सुख शान्ति के स्रोत प्रभो! आपकी वन्दना करते हुए हमें युग बीत गये हैं, न आपका अन्त मिला न आप की महिमा का अन्त मिला।

जिस साध ने उस सोम रस का पान कर लिया है वह आनन्द से विभोर हो उठता है। उस दिव्य सोम का पान कर मस्त हो जाता है। अद्भुत शक्ति प्राप्त करता है और कह उठता है-

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया । इन्द्राय पातवे सुतः ।^{२४}

यही वह स्वादिष्ठ, आनन्दप्रद सोम धारा है जिसे पीकर आत्मा तृप्त होता है, मस्त होता है। प्रभु ने आत्मा की तृषा को शान्त करने के लिए इस सोम धारा को उसके पवित्र अन्तःकरण में प्रवाहित किया है।

बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे । सोमाय गाथमर्चत^{२५}

अर्थात् हे मनुष्यो! बभ्रवे- जो विश्वम्भर परमात्मा है और जो स्वतवसे- बलस्वरूप है और दिविस्पृशे- जो

१९ ऋ. ७.१०४.१३

२० अथर्व. १८.२४.३

२१ यजु. ९.४०

२२ ऋ. ९.९६.५

२३ ऋ. १.९१.१३

२४ ऋ. ९.१.१

२५ ऋ. ९.११.४

द्युलोक तक भी फैला है। सोमाय- जो चराचर जगत् का उत्पादक है। आरुणाय जो सर्वव्यापक है उसके लिए ही गाथम् अर्चत स्तुति गाया करो।

अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोमशंगवे। देवेभ्यो अनुकामकृत् ।।^{२६}

अर्थात् हे सोम -परमात्मन्! अमित्रहा - आप प्रेमरहित नास्तिकों के हनन करने वाले हैं देवेभ्यो अनुकामकृत् -और दैवी सम्पत्ति के गुण रखने वाले लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं क्योंकि विचर्षणिः- आप न्यायदृष्टि से देखने वाले हैं गवे - हमारी वृत्तियों को शं - पवित्रकर हमारा कल्याण करें।

नवम् मण्डल के २२वें सूक्त के मन्त्र संख्या सात

त्वं सोम पणिभ्य आ वसु गव्यानि धारयः ।

ततं तन्तुमचिक्रदः ।।^{२७} इस मंत्र में सोम का अर्थ- हे सर्वोत्पादक परमात्मन् किया है।

एक अन्य मन्त्र में भी सोम का अर्थ परमात्मा किया है -

क्रीडुर्मखो न मंहयः पवित्रं सोम गच्छसि । दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ।।^{२८}

इस मन्त्र का अर्थ है - सोम - हे परमात्मन् भवान् क्रीडनशीलः क्रतुरिव दातास्ति सत्कर्मणं जनं समभिगच्छति वेदादिशास्त्रेषु स्वबलं समर्पयति च ।

नवम् मण्डल के ३३वें सूक्त के प्रथम मन्त्र

प्र सोमासो विपश्चितोऽपां न यन्त्यूर्मयः । वनानि महिषा इव ।।^{२९}

यहाँ सोमासः का अर्थ विद्वान् किया गया है।

नवम् मण्डल के २३वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में सोम का अर्थ ब्रह्माण्ड किया है।

सोमा असृग्रमाशवो मधोर्मदस्य धारया । अभि विश्वानि काव्या ।।^{३०}

यहाँ सोमाः का अर्थ किया है - “सूयन्ते = उत्पाद्यन्ते इति सोमाः ब्रह्माण्डानि” ।

सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम् । सवीरो अभिशस्तिपाः ।।^{३१}

यहाँ सोमः का अर्थ किया है - सब पदार्थों का उत्पत्ति स्थान यह ब्रह्माण्ड ।

इस प्रकार इस मण्डल के कई मन्त्र एवं पवमान काण्ड के मन्त्रों में सोम से कई अर्थों को ग्रहण किया गया है।

२६ ऋ. ९.११.६

२७ ऋ. ९.२२.७

२८ ऋ. ९.२०.७

२९ ऋ. ९.३३.१

३० ऋ. ९.२३.१

३१ ऋ. ९.२३.५

सोम ओषधि के रूप में- चरक सुश्रुत में सोम ओषधि का विस्तृत वर्णन मिलता है। वहाँ कहा है-
 सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दशपञ्च च। तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च।।२०
 एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहर स्वदा। शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेद् पञ्चदशच्छदः।।२१
 शीर्यते पत्रमैकेकं दिवसे पुनः पुनः। कृष्ण पक्षये चापि लता भवति केवला।।२२

सोमभेदाः - अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजत प्रभः। दल्याकारमन्दस्तु मुञ्जवान् लशुनच्छदः।।२३
 चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा। गरुदाहत नामा च श्वताक्षश्चापि पाण्डुरौ।।२४
 सर्पनिर्मोक सदृशौ तु वृक्षाग्रावलम्बिनौ। तथान्ये मण्डलैश्चित्तश्चित्रिता इव भान्ति ते।।२५
 सर्वे तु विज्ञेयाः सोमः पञ्चदशच्छदाः। श्रीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः।।२६^{३२}

सुश्रुत में सोम के भेद, उत्पत्ति स्थल के साथ ही सोमलता की विशिष्टता का वर्णन किया है। चन्द्रमा की कला के साथ शुक्ल पक्ष में १-१ पत्ते के बढ़ते हुए पूर्णिमा को १५ पत्ते हो जाने तथा कृष्ण पक्ष में १-१ पत्ता कम होते हुए अमावस्या में केवल एक लता ही शेष रहती है।

सोम पृथिवी के वनस्पतियों का पोषक, स्वामी और उनमें सौम्य भाव लाने वाले औषधिराज है। वनस्पति की जीवनी शक्ति चन्द्रमा के अधीन है। इसी सन्दर्भ में सोम को चन्द्रमा भी कहा है 'एतद्वै देव सोमं यच्चन्द्रमाः'^{३३} अर्थात् यही देवताओं का सोम है जो चन्द्रमा है। क्योंकि कहा गया है कि सोम पहले देवलोक स्वर्गलोक में था- दिविसोमाऽधिश्चितः।^{३४}

शतपथ ब्राह्मण में सोम याग का विस्तृत वर्णन किया है।

इस प्रकार वेद में वर्णित सोम भी ओषधि तथा चन्द्रमा में परिधि से निकल कर अनेक अर्थों को बताने वाला है।

त्वं सोम पवमानो विश्वानिदुरितानितर। कविः सीद बर्हिणीः।^{३५}

हे सोम! यह आसन आपके लिये है। यहां बैठो तुम हमें पवित्र करने वाले पवमान हो। हमारे सब दुरितों को दूर करो।

ऋग्वेद के नवें मण्डल में उसे विचक्षण, विपश्चित् ऋषि, विप्र, ब्रह्म, मनीषी, विद्वान्, ब्रह्माण्ड, वनस्पति इत्यादि उत्कृष्ट विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।

वस्तुतः सोम तो परमात्मा का ही वाचक है जिसके भक्ति रस का पान कर मर्त्य प्राणी भी अमृत हो जाता है।

३२ सुश्रुत चिकित्सा अ. २९.२०-२०

३३ ऐतरेय ब्राह्मण ७.११.८

३४ अथर्व. १४.१.१

३५ ऋ. ९.५९.३

गुरुकुल-पत्रिका, अङ्क- ७६.२, अक्टूबर-दिसम्बर २०२४

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

१. ऋग्वेद संहिता, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००६
२. अथर्ववेद संहिता, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, वि.सं. २०५४
३. धातुपाठ, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली सोनीपत, हरियाणा, १९९५
४. ऋग्वेद भाष्य- महर्षि दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय अजमेर, वि.सं. २०४२
५. अथर्ववेद भाष्य, प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा, वि.सं. २०६२
६. यजुर्वेद भाष्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, वि. सं. २०४२
७. उणादि कोष, युधिष्ठिर मीमांसक, श्रीमती सावित्री देवी बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता, १९८७
८. सुश्रुत संहिता, डा. केवट कृष्ण ठकराल, चौखम्बा ओरियन्टल वाराणसी, २००४

चूडाकर्म संस्कार का अर्थ एवं परिभाषा -

चूडाकर्म संस्कार को केशच्छेदन संस्कार भी कहते हैं। 'चूडा का अर्थ 'शिखा' होता है। इस संस्कार में शिखा को छोड़कर गर्भकाल के सिर के सभी बाल और नख कटवा दिये जाते हैं। ऐसी मान्यता है कि चूडाकरण से दीर्घायु एवं कल्याण प्राप्त होता है।^७ राजबली पाण्डेय का विचार है कि - "चूडाकरण संस्कार के मूल में स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य की भावना ही मुख्य थी।^८ इस संस्कार के समय के विषय में मनुस्मृति में उल्लेख है कि-

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्।^९

बालकों का चूडाकरण अर्थात् मुण्डन संस्कार वेद एवं धर्म - सम्मत रूप से पहले या तीसरे वर्ष में कराया जाना चाहिए।

चूडाकर्म संस्कार का उद्देश्य -

चूडाकर्म संस्कार में मुख्य रूप से गर्भ कालीन केशों का कर्तन करके शिखा रखी जाती है। शिखा तेज को बढ़ाती है, दीर्घायु तथा बलवर्धक भी है - दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्। शिखा हमारी ज्ञानशक्ति को बढ़ाती है। हमें चैतन्यता प्रदान करती है। शिखा सूर्यकिरणों से प्राप्त प्रकाशिनी शक्ति को आकर्षित करने एवं सहस्रदलकर्णिका तक पहुँचाने में सम्प्रेषक का कार्य करती है। शिखा रखने एवं इसके नियमों के अनुशीलन से सद्बुद्धि, सद्बुद्धि, शुचिता एवं सद्बिचार में वृद्धि होती है।

चूडाकर्म संस्कार का समय -

पारस्कर गृह्यसूत्र (१.१९) के अनुसार यह संस्कार जन्म के प्रथम, तीसरे, पाँचवे या सातवें वर्ष की समाप्ति से पहले करना चाहिए। किन्तु अधिकांश गृह्यसूत्र यथा - आश्वलायन गृह्यसूत्र (१/१७/१८), आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (१६/३/१०), गोभिल गृह्यसूत्र (२/९१/२९) इत्यादि में इसे तीसरे साल सम्पन्न करने की सलाह दी गई है। आश्वलायन गृह्यसूत्र पारिवारिक परम्परा एवं रीति - रिवाजों के अनुसार इस संस्कार को करने की सलाह देता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का ऐसा मत है कि -

तृतीये वर्षे चौलम्।। उत्तरतोऽग्नेर्वीहियवमाषतिलानां पृथक्पूर्णशरावाणि निदधाति।^{१०}

पारस्कर गृह्यसूत्र में भी चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष या एक वर्ष में करने के लिए कहा गया है। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द मङ्गल हो उस दिन यह संस्कार करे। क्योंकि -

सांवत्सरिकस्य चूडाकरणाम्।।^{११}

७ पारस्कर गृह्यसूत्र, २.१.१

८ हिन्दू संस्कार, पृ - १२०

९ मनुस्मृति, २.३५

१० आश्वलायन गृह्यसूत्र, १.१७.१-२

११ पारस्कर गृह्यसूत्र, २.१.१

संस्कारविधि में वर्णित चूडाकर्म संस्कार प्रक्रिया -

जिस दिन चूडाकर्म संस्कार करना उस दिन निम्न प्रक्रिया करें - चार शरावें लें, एक में चावल, दूसरे में यव, तीसरे में उर्द और चौथे शरावें में तिल भर के वेदी के उत्तर में रख दें। तत्पश्चात् 'ओश्म् अदितेऽनुमन्यस्व०' इत्यादि तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन ओर और 'ओश्म् देव सवितः प्रसुव' इस मन्त्र से कुण्ड के चारों ओर जल छिड़क दें। तत्पश्चात् अग्न्याधान समिदाधान कर अग्नि को प्रदीप्त करके जो समिधा प्रदीप्त हुई हो उस पर लक्ष्य देकर आधारावाज्यभागाहुति चार और व्याहृति आहुति चार और आठ आज्याहुती सब मिल के सोलह आहुति दें। इसके बाद "ओश्म् भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि०" इत्यादि मन्त्रों से चार आज्याहुति प्रधान होम की दें, इसके बाद चार व्याहृति आहुति और स्विष्टकृत् मन्त्र से एक आहुति सब मिला करके पाँच घृत की आहुति दें, इतनी क्रिया करके कर्मकर्ता परमात्मा का ध्यान करके नापित की ओर प्रथम देख कर निम्न मन्त्र का जप करें -

ओश्म् आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि। आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः।^{१२}

सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः।।^{१३}

इस मन्त्र को जप करने के पश्चात्, बालक का पिता बालक के पृष्ठभाग में बैठ के थोड़ा उष्ण और थोड़ा ठण्डा जल दोनों पात्रों में लेके निम्न मन्त्र बोलते हुए दोनों पात्रों का जल एक पात्र में मिला दें -

उष्णेन वाय उदकेनेहि।।^{१४}

तत्पश्चात् थोड़ा जल थोड़ा मक्खन अथवा दधि की मलाई लेके निम्न मंत्रों को बोलकर बालक के शिर के बालों में तीन बार हाथ फेर कर केशों को भिगावें -

ओश्म् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा। चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे।।^{१५}

ओश्म् सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे।।^{१६}

तत्पश्चात् कंधा लेके केशों को सुधार के इकट्ठा करे, अर्थात् केश बिखरे न रहें। तत्पश्चात् - ओश्म् ओषधे त्रायस्वैनम्।।^{१७} इस मन्त्र को बोल के तीन दर्भ लेके दाहिनी ओर के केशों के समूह को हाथ से दबा कर छुरे को हाथ में लेकर निम्न मंत्रों को बोलें -

ओश्म् शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः।।^{१८}

१२ अथर्ववेद, ६.६८.१

१३ गोभिल गृह्यसूत्र, २.९-१०

१४ पारस्कर गृह्यसूत्र, २.१.१६

१५ अथर्ववेद, ६.६८.२, आश्वलायन गृह्यसूत्र, १.१७.७

१६ पारस्कर गृह्यसूत्र, २.१.९

१७ गोभिल गृह्यसूत्र, २.८.१०-१७

१८ यजुर्वेद, ३.६३

ओ३म् स्वाधिते मैनं हिंसीः ।^{१९}

ओ३म् निवर्त्तयाम्यायुषेऽनाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय । ।^{२०}

तत्पश्चात् इस मन्त्र को बोल के कुश सहित उन केशों को काटे -

ओ३म् येनावपत्सविता जुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।

तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् । ।^{२१}

तत्पश्चात् काटे हुए केश और दर्भ शमीवृक्ष के पत्रसहित, अर्थात् यहाँ शमीवृक्ष के पत्र भी रखने चाहियें, उन सब को बालक का पिता और माँ एक शरावा में रखे। तत्पश्चात् इसी प्रकार निम्न मन्त्रों को बोलकर दूसरी तरफ के केश समूह को काटे और शरावा में रखे -

ओ३म् येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् ।

तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये । ।^{२२}

तत्पश्चात् निम्न मन्त्र से तीसरी बार भी उसी प्रकार केश समूह को काट के उसी प्रकार शरावा में रखे -

ओ३म् येन भूयश्चरात्यं ज्योक च पश्यति सूर्यम् । तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये । ।^{२३}

ओ३म् येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत् ।

तेन त वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्मय वर्चसे । ।^{२४}

अर्थात् प्रथम दक्षिण ओर के केश काटने की विधि पूर्ण होने के पश्चात् बाई ओर के केश काटने की विधि करें। तत्पश्चात् उसके पीछे आगे के केश काटें। परन्तु चौथी बार केश काटने में 'येन पूषा०' इस मन्त्र के बदले निम्न मन्त्र बोल कर केश छेदन करें -

ओ३म् येन भूरिश्वरा दिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम् ।

तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय मुश्लोक्याय स्वस्तये । ।^{२५}

तत्पश्चात् निम्न मन्त्र बोलते हुए बालक के शिर पर दोबारा छुरा घुमा दें ताकि जहां भी बालक के शिर पर बाल बचे हो वो कट जाए -

ओ३म् त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यदेवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् । ।^{२६}

१९ आश्वलायन गृह्यसूत्र, २.१.१६

२० यजुर्वेद, ३.६३

२१ अथर्ववेद, ६.६८.३

२२ आश्वलायन गृह्यसूत्र, २.१७.१२

२३ गोभिल गृह्यसूत्र, २.८.११

२४ गोभिल गृह्यसूत्र, २.८.११

२५ पारस्कर गृह्यसूत्र, २.१.१६

यत्क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वसा वपसि केशान् शुन्धि शिरो मास्यायुः प्र मोषीः ।।^{२७}

तत्पश्चात् शीतोष्ण जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिगो दें। जब केशकर्तन हो जाये तब कुण्ड के पास रखा हुआ देने योग्य पदार्थ वा शरावा आदि जिनमें प्रथम अन्न भरा था नापित को दें, और मुण्डन किये हुए सब केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर नाई को दें, यथायोग्य उसको धन वा वस्त्र भी दें। और नाई केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर को जंगल में ले जाकर गड्ढा खोद के उसमें सब डाल ऊपर से मिट्टी से दबा दें अथवा गोशाला, नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ दें।

क्षौर होने पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगाकर बालक के शिर पर लगा के स्नान कराकर उत्तम वस्त्र पहना करके बालक को पिता अपने पास लेकर शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के सामवेद का आर्चिक और महावामदेव्यगान करके, बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें। और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता-पिता परमेश्वर का ध्यान करके - 'ओश्म् त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः।' इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद देके अपने - अपने घर को प्रस्थान करें और बालक के माता-पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रखें।

आयुर्वेद में चूडाकर्म संस्कार

चूडाकर्म संस्कार का अर्थ -

आयुर्वेदिक ग्रन्थों से भी चूडाकरण के इस धर्मशास्त्रोक्त प्रयोजन की पुष्टि होती है। इसे केशछेदन या मुण्डन संस्कार भी कहते हैं। आचार्य चक्रपाणि 'कल्पन' का अर्थ छेदन करते हैं -

केशानां प्रसाधनं सम्यम्बन्धनादि, श्मश्रूणां कल्पनमेव,

नखस्य तु कल्पनम्, अलक्तकादिदानेन प्रसाधनं चर ।

चूडाकर्म संस्कार का समय -

चरक संहिता सूत्रस्थान के ८वें अध्याय में क्षौरकर्म के समय के विषय में कहते हैं कि 'त्रिरूपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्'।^{२८} अर्थात् ४५ दिन के बाद और कर्म कराना चाहिये।

चूडाकर्म संस्कार के उद्देश्य -

आचार्य सुश्रुत ने क्षौरकर्म का वर्णन इस प्रकार किया है -

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम् । हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम् ।।^{२९}

२६ यजुर्वेद, ३.६२

२७ आश्वलायन गृह्यसूत्र, २.१७.१५

२८ चरकसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय, ८

२९ सुश्रुत संहिता, चिकित्सास्थान, २४.७३

शिर के बाल, नाखून और दाढ़ी के बाल कटवाते रहने से पापों अर्थात् रोगादि का शमन होता है तथा प्रसन्नता, शरीर में हल्कापन तथा सौभाग्य लाता है एवं उत्साह की वृद्धि करता है। क्षौरकर्म के लाभ के विषय में आचार्य चरक कहते हैं कि -

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचि रूपविराजनम् । केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं सम्प्रसाधनम् ।।^{३०}

केश अर्थात् सिर के बाल, श्मश्रु अर्थात् दाढ़ी, मूँछ, नख आदि को काटने अर्थात् क्षौर कर्म करने एवं इनको संवारने से शरीर की पुष्टि, वृष्यता, आयुष्य, पवित्रता तथा रूप की शोभा होती है। क्षौर कर्म से शुचिता और सौन्दर्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं, शेष पुष्टता आदि इसके प्रभावजनित गुण है। शरीरमार्जन के विषय में आचार्य चरक का मत है कि-

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रां कण्डूमलमरोचकम् । स्वेदबीभत्सतां हन्ति शरीरपरिमार्जनम् ।।^{३१}

नहाते समय जो उबटन लगाया जाता है और नहाने के बाद जो तौलिया अथवा स्पञ्ज द्वारा शरीर को रगड़ कर पोंछा जाता है उसको शरीरपरिमार्जन कहते हैं। इससे शरीर की दुर्गन्धता, भारीपन, तन्द्रा, खुजली, मैल, भोजन तथा अन्य दैनिक कार्यों के प्रति अरुचि और पसीने द्वारा उत्पन्न विकृति अथवा मलिन अवस्था का विनाश होता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार -

उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोऽनिलापहम् । स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक् प्रसादकरं परम् ।।^{३२}

इनके अनुसार शरीर परिमार्जन शब्द से उद्वर्षण और उत्सादन कर्मों का भी ग्रहण किया जाता है।

उद्वर्षण- अस्त्रेहौषधचूर्णादिभिः घर्षणम् । जैसे - चना अथवा मसूर के सने हुए आटा से शरीर को मलना, घिसना। इस क्रिया से रोमकूपों में जमा हुआ मैल निकल जाता है। उत्सादन- स्नेहकल्केन उद्वर्षणम्, उद्वर्तनम् उत्सादनम् । यथा - चना के आटा में तेल और दही मिलाकर मलना। आचार्य चरक के अनुसार स्नान से लाभ -

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम् । शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम् ।।^{३३}

स्नान से शरीर एवं अन्तरात्मा पवित्र होता है। यह वीर्यवर्धक तथा आयु को बढ़ाने वाला है। स्नान से श्रम अर्थात् थकावट, पसीना तथा मल का नाश होता है और यह शरीर के बल एवं ओजस् को बढ़ाता है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार -

निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम् । हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविबोधनम् ।।

तन्द्रा पाप्मोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम् । रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्रेश्च दीपनम् ।।^{३४}

३० चरक संहिता, सूत्रस्थान, ५.९९

३१ चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ५.९३

३२ सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थान, २४.५१

३३ चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ५.९४

३४ सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थान, २४.५७-५८

स्नान नींद, दाह और श्रम को दूर करता है; पसीना, खुजली और प्यास को मिटाता है, हृद्य, मलहर तथा सभी इन्द्रियों के जागरण में श्रेष्ठ है। यह तन्द्रा तथा पाप अर्थात् बुरे विचारों का शमन करता है। स्नान से मन प्रसन्न होता है, पुंस्त्व को बढ़ाता है। इससे रक्त की शुद्धि होती है और वह अग्निदीपन करता है। वाग्भट का मत है कि -

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानभूर्जाबलप्रदम् । कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्वाहपाप्मजित् ।।^{३५}

उष्ण जल से स्नान के विषय में आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि -

उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा । शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत् ।।

श्लेष्ममारुतकोपे तु ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम् । काममुष्णं शिरःस्नानं भैषज्यार्थं समाचरेत् ।।

अतिशीताम्बु शीते च श्लेष्ममारुतकोपनम् । अत्युष्णमुष्यकाले च पित्तशोणितवर्धनम् ।।^{३६}

शिर को गरम जल से धोना नेत्रों के लिए सदा अहितकर होता है और शीतल जल से शिरः स्नान नेत्रों के लिए हितकर है। यदि कफ और वायु का प्रकोप हो तो व्याधि के बलाबल का विचार कर औषध के रूप में उष्ण जल से शिर को धोया जा सकता है। अति शीतल जलस्नान से हानि - शीत ऋतु में अतिशीतल जल कफ - वात प्रकोपक होता है और उष्ण ऋतु में अत्युष्ण जल के प्रयोग से पित्त तथा रक्त की वृद्धि होती है। स्नान का निषेध- अतिसार, ज्वर, कर्णशूल, वातविकार, आध्मान अरोचक, अजीर्ण में और भोजन के तुरन्त बाद स्नान करना निन्दित हैं। तत्पश्चात् फूल, वस्त्र और रत्नधारण के गुण को बताते हैं -

रक्षोघ्नमथ चौजस्यं सौभाग्यकरमुत्तमम् । सुमनोऽम्बररत्नानां धारणं प्रीतिवर्धनम् ।।^{३७}

फूल, वस्त्र और रत्न को धारण करने से दृष्ट आत्माओं का प्रभाव नहीं होता है, ओज की वृद्धि होती है, अच्छे भाग्य की प्राप्ति होती है और परस्पर स्नेह बढ़ता है। वाग्भट के अनुसार -

उष्णाम्बुनाऽपः कायस्य परिषेको बलावहः । तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलहृत् केशचक्षुषाम् ।।^{३८}

स्नान के अनन्तर बालों में कंघी करके स्वच्छ वस्त्र से या अंगोछा से शरीर पोंछ कर वस्त्र धारण करे।

वस्त्र धारण के विषय में आचार्य चरक कहते हैं कि -

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम् । श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ।।^{३९}

३५ अष्टाङ्गहृदयम्, सूत्रस्थान, २.१

३६ सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थान, २४.५९-६१

३७ सुश्रुतसंहिता, चिकित्सास्थान, २४.६४

३८ अष्टाङ्गहृदयम्, सूत्रस्थान, २.१७

३९ चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ५.९५

निर्मल वस्त्रों को धारण करने से सौन्दर्य, यश एवं आयुष्य की वृद्धि होती है, दरिद्रता का नाश होता है, मन प्रसन्न होता है। तत्पश्चात् सुगन्धित द्रव्य एवं माला धारण के विषय में कहते हैं कि -

वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् । सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम् ।।^{४०}

सुगन्धित द्रव्यों अर्थात् चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि का अनुलेपन तथा मालाओं अर्थात् सुगन्धित पुष्पों की माला आदि का धारण करने से वृषता, सुगन्धि, आयु की वृद्धि, सुन्दरता अथवा कमनीयता, पुष्टि एवं बल की प्राप्ति होती है, चित्त प्रसन्न रहता है। पुनः रत्न - आभूषणों के विषय में आचार्य चरक कहते हैं कि -

धन्यं मङ्गलमायुष्यं श्रीमद्भयसन सूदनम् । हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम् ।।^{४१}

रत्नों तथा सुवर्ण आदि के आभूषणों को धारण करने से धान्य, मङ्गल, आयुर्वर्धक तथा शारीरिक शोभा की वृद्धि होती है। त्रिविध कष्टों का विनाशक, चित्त की प्रसन्नता, सौन्दर्य वृद्धि और ओज की वृद्धि होती है।

मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम् । पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्षणशः ।।^{४२}

पाद तथा मल निकलने के मार्गों को प्रतिदिन बार - बार साफ करने से बुद्धिवर्धक, हितकारक, पवित्र, आयु वर्धक, दरिद्रता तथा पाप का नाश होता है। पैरों के निचले भाग में कूर्चशिर, तलहृदय, कूर्च और क्षिप्र नामक मर्म होते हैं। पैरों का निचला भाग ही प्रायः सामान्य लोगों का धूल तथा अन्य प्रकार की गन्दगी से आक्रान्त रहता है। वाग्भट का मत है कि-

मलौष्ण्यसङ्घट्टनपीडनाद्यैस्ता दूषयन्ते नयनानि दुष्टाः ।

भजेत् सदा दृष्टिहितानि तस्मादुपानदभ्यञ्जनधावनानि ।।^{४३}

मैल की तह जम जाने से पैरों के रोमकूप अवरुद्ध हो जाते हैं, फलतः नेत्र आदि में विकार होने लगते हैं। अतः सदा जूता धारण करें, तेल लगायें और प्रतिदिन उनको साफ रखें।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कार मानव की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। संस्कारविधि में चूडाकर्म संस्कार को आठवें संस्कार के रूप में परिगणित किया गया है। इस संस्कार को करने से जातक के जन्मजात रोगों का शमन, शारीरिक एवं मानसिक विकास, बुद्धिवर्धक, आयुर्वर्धक, वीर्यवर्धक, ओजवर्धक, रक्तशुद्धि, अग्निदीपन, त्रिदोष शमन तथा चित्तादि प्रसन्न रहते हैं।

४० चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ५.९६

४१ चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ५.९७

४२ चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ५.९८

४३ अष्टाङ्गहृदयम्, उत्तरस्थान, १.६

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अथर्वेदसंहिता, सायणभाष्यसहित, सं. शंकर पाण्डुरंग, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २००७
2. अष्टाङ्गसङ्ग्रह, रविदत्त त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८४
3. अष्टाङ्गहृदयम्, अण्णा मोरेश्वर कुट्टे, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि.सं. २०७६
4. अष्टाङ्गहृदयम्, सं. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २०२१
5. ऋग्वेदसंहिता, सायणभाष्यसहित, एफ. मैक्स मूलर, कृष्णदास अकादमी, वाराणसि, १९९३
6. चरकसंहिता, दत्तराम चतुर्वेदी, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, १९५७
7. यजुर्वेद भाषाभाष्य, महर्षि दयानन्द सरस्वती, आध्यात्मिक शोध संस्थान, दिल्ली, २०१०
8. शब्दकल्पद्रुम, भाग -५, राजा राधाकान्तदेव, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सं. २०२४
9. संस्कारविधि, महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, सं. २०६७
10. सुश्रुतसंहिता, डल्हणटीकासहित, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, १९३८

पातञ्जल योगसूत्र का पुनः अनुक्रमण

देवेश कुमार

शोधार्थी, योग विज्ञान व प्राकृतिक चिकित्सा विभाग, सरला बिरला विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड

प्रो० (डॉ०) नीलिमा पाठक

डीन व प्रोफेसर योग विज्ञान व प्राकृतिक चिकित्सा विभाग, सरला बिरला विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड

शोध सारांश (Abstract) :

आजकल का युग वास्तव में एक बदलाव के दौर से गुजर रहा है, जिसमें मानसिक और भौतिक उन्नति के साथ-साथ मानवता का आंतरिक संतुलन और चेतना का स्तर घटता जा रहा है। आधुनिकता के इस युग में मनुष्य अधिकतर बाहरी दुनिया में उलझा हुआ है और अपने भीतर की ओर कम ध्यान दे रहा है। इस कारण गहरी समाधि की ओर बढ़ना या आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया कठिन होती जा रही है। आज की दुनिया में, भौतिक सुख-साधनों और बाहरी प्रभावों का आकर्षण इतना प्रबल हो गया है कि मनुष्य अक्सर अपने भीतर की शांति और आत्मचेतना से दूर हो गया है और उसकी आंतरिक चेतना उच्चतम स्तर तक नहीं पहुँच पाती है।

पातञ्जल योग सूत्र में चार पाद (अध्याय) हैं: समाधि पाद, साधना पाद, विभूति पाद, और कैवल्य पाद। वर्तमान में जो क्रम दिया गया है वह समाधि पाद, साधना पाद, विभूति पाद, और कैवल्य पाद है। परंतु, इस क्रम पर पुनर्विचार और संशोधन की आज आवश्यकता है, क्योंकि इसमें कुछ बुनियादी गहरे तात्त्विक बदलाव की सम्भावना आज के परिदृश्य में है जिसका कारण आधुनिक मानव के आंतरिक चेतना उच्चतम स्तर में हास होना है।

बीज शब्द (Keywords) : समाधि पाद, साधना पाद, विभूति पाद, और कैवल्य पाद

शोध आलेख (Research Article) :

भारत के प्रख्यात षड्दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन और मुख्य कौन है? इसका निर्णय अभी पूर्ण रूपेण नहीं हो सका है तथापि योग दर्शन का श्रेष्ठत्व सभी ने स्वीकार किया है। इस श्रेष्ठता का कारण योग दर्शन का क्रियात्मक तथा व्यवहारिक होना है, साथ ही इसकी ऐसी विशेषताएं भी हैं जो आत्म कल्याण और लोक कल्याण दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी हैं।

साधनपाद में मध्यम वर्गीय उन साधकों के लिए साधन वर्णित है जो जन्म से ही साधारण वातावरण में रहे तथा लौकिक मनुष्यों के समान विविध वासनाओं राग द्वेष आदि से ग्रस्त है; ताकि उनका क्रमशः आत्म विकास होता जाए और चित् की शुद्धि करके वह परमात्म तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी हो जाए, इसी कारण साधनपाद के प्रथम सूत्र में तब स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग^१ बताया गया है। तत्पश्चात् क्रिया योग

१ तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः -साधनपाद सूत्र (२. १)

से दूर होने वाले पाँच क्लेश^२ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का वर्णन है। अष्टांग योग के यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार^३ तक का वर्णन साधनपाद में किया गया है इसके तीन भाग धारणा, ध्यान तथा समाधि^४ की चर्चा विभूतिपाद में की गई है।

जब यह आठों (८) अंग सिद्ध हो जाते हैं, तब योगी के लिए संसार का कोई भी कार्य कठिन नहीं रहता, योगी को समाधि की प्राप्ति होती है और समाधि के पश्चात् योगी को अनेक विभूतियों तथा सिद्धियों की प्राप्ति होती है। योगी के लिए विभूतियों तथा सिद्धियों की प्राप्ति अंतिम लक्ष्य नहीं होता है। समाधि की चरम अवस्था 'कैवल्य'^५ की प्राप्ति होती है। कैवल्य को योग का अंतिम लक्ष्य माना गया है। यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा (पुरुष) और प्रकृति (प्रकृति के तत्त्व) के बीच कोई संयोग^६ या भ्रम नहीं रहता।

विभूतिपाद की पूर्ण तथा सफल योगी के जीवन में अवरोहण समाधि के द्वारा ही निहित है अर्थात् विभूतिपाद में अनेक सिद्धियों और विभूतियों की प्राप्ति समाधि द्वारा बताई गई है पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि योगी के चित्त में प्राचीन और नूतन कर्मों के संस्कार^७ अवशिष्ट रहते हैं जो उसे जन्म तथा मरण के चक्र से निवृत्त नहीं होने देते। अतः अंतिम पाद कैवल्य की प्राप्ति के साथ पूर्ण होती है।

वास्तव में, आज के समय में योग का अभ्यास और इसका अनुशीलन करते हुए इसकी पुनर्व्यवस्था पर विचार करना स्वाभाविक है। योग सूत्र की पुनर्व्यवस्था चारों 'पादों' के क्रम में भी बदलाव की मांग करती है। वर्तमान क्रम समाधि पाद, साधना पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद है। शोधार्थी का मानना है कि आज के सन्दर्भ में यह क्रम इस प्रकार होना चाहिए: साधनपाद, समाधि पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद।

इस पुनर्व्यवस्था में योग के अभ्यास को एक सुसंगत और व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत हो रहा है, जो आधुनिक समय में अधिक सुलभ और प्रभावी हो सकता है। यह क्रम न केवल व्यावहारिक है, बल्कि यह योग की गहराई को सही संदर्भ में प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक भी प्रतीत होता है।

क्रम सं.	मूल पातञ्जल योग सूत्र	पातञ्जल योग सूत्र का पुनः अनुक्रमण
१	समाधिपाद- ५१	साधनपाद- ७४
२	साधनपाद- ५५	समाधिपाद- ५१
३	विभूतिपाद- ५५	विभूतिपाद- ३९
४	कैवल्यपाद- ३४	कैवल्यपाद- ३१

२ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः -साधनपाद सूत्र (२. ३)

३ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि -साधनपाद सूत्र (२. २९)

४ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि -साधनपाद सूत्र (२. २९)

५ पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति -कैवल्यपाद सूत्र (४.३४)

६ स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः -साधनपाद सूत्र (२. २३)

७ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः -कैवल्यपाद सूत्र (४.२७)

यह योग सूत्र को पुनः व्यवस्थित करने का एक प्रयास मात्र है, ताकि योग सूत्र को अधिक सुसंगत तथा सक्षम आज के संदर्भ में बनाया जा सके फलस्वरूप प्रत्येक सूत्र को और अच्छे ढंग से समझा जा सके। यह तथ्य है कि योग सूत्र समग्र रूप से एक सघन, सुगठित दार्शनिक विचार भी बनाते हैं, इसे न तो नकारा गया है और न ही चुनौती दी गई है। सूत्र बिना कुछ जोड़े या हटाए सरलता से प्रस्तुत किए गए हैं। सूत्रों में अन्तर्निहित अवधारणाएँ, जो बिखरी हुई हैं उसे एक अलग क्रम से समझने में आसानी हो सकती है।

सूत्रों को बिना जोड़े या हटाए जाने पर सिर्फ एक अलग क्रम के साथ प्रस्तुत किये जाने के कारण सूत्रों में बिखरी हुई अन्तर्निहित अवधारणाओं को और अच्छे ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। इस परिवर्तन के लिए तर्क यह है कि योग दर्शन एक व्यावहारिक विज्ञान है। आज के संदर्भ में स्वाभाविक रूप से, इसकी शुरुआत साधनपाद से होनी चाहिए। साधना के फलस्वरूप जब यह आठो (८) अंग सिद्ध हो जाते हैं, तब योगी को समाधि की प्राप्ति होती है और समाधि के पश्चात योगी को अनेक विभूतियों तथा सिद्धियों की प्राप्ति होती है जो साधक को कैवल्य की ओर ले जाती है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि के योग सूत्र में तर्क वितर्क का बिलकुल स्थान ना देकर सिर्फ क्रिया पक्ष को उभारा गया है ताकि साधक को कैवल्य की प्राप्ति हो पुर्नजन्म की श्रृंखला टूट जाए और आवागमन से मुक्ति हो जाये।^८

सूत्रों की नई व्यवस्था के साथ यह नया आदेश एक व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखता है। नई व्यवस्था के अनुसार साधनपाद में ७४ सूत्र होंगे, जबकि मूल साधनपाद में ५५ सूत्र हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समाधि पाद अपने मूल रूप में साधनपाद और समाधिपाद का संयुक्त है। साधनपाद में शामिल किये जाने वाले सूत्रों का विवरण अंत में दिया गया है। शोधार्थी ने पाद के भीतर कुछ समूह शीर्षक भी दिए हैं जो इंगित करते हैं कि अन्तर्निहित अवधारणा की सुसंगतता के लिए कुछ सूत्रों को एक साथ लेकर एक समूह बनाया जा सकता है।

१..संशोधित साधनपाद	
मूल पातञ्जल योग सूत्र संख्या	विषय
समाधिपाद -१ to ४	योग के लक्षण और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन
समाधिपाद ५ to ११	चित्त की वृत्तियों के पाँच भेद और इनके लक्षण ^९
समाधिपाद १२ to १६	अभ्यास और वैराग्य प्रकरण
समाधिपाद ३० to ४०	चित्त विक्षेप (अंतराय, ^{१०} सहभुव ^{११} और उसके नाश के तरीका)

^८ पं श्री राम शर्मा आचार्य, २०११ सांख्य एवं योग दर्शन (भूमिका -योग दर्शन), युग निर्माण योजना, मथुरा

^९ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः -समाधिपाद सूत्र(१.६)

^{१०} व्याधिस्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः -समाधिपाद सूत्र (१.३०)

^{११} दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः-समाधिपाद सूत्र (१.३१)

साधनपाद १ to ११	क्रिया योग ^{१२} , पंच-क्लेश ^{१३} तथा उसके नष्ट करने के उपाय
साधनपाद १२ to १४	क्लेश, कर्माशय ^{१४}
साधनपाद २९ to ४५	यम और नियम ^{१५}
समाधिपाद २३ to २९	ईश्वर प्रणिधान ^{१६}
साधनपाद ४६ to ५५	आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार

नई योजना में समाधिपाद ५१ सूत्रों के साथ दूसरे स्थान पर है, जबकि मूल में ५१ सूत्र हैं। समाधि से संबंधित सूक्ष्म और अमूर्त अवधारणाओं को समझने के लिए बिखरे हुए सूत्रों को एक साथ संकलित किया गया

२. संशोधित समाधिपाद	
मूल पातञ्जल योग सूत्र संख्या	विषय
विभूतिपाद १ to १०	धारणा, ध्यान और समाधि ^{१७}
समाधिपाद -१७ to २२	समाधि की प्रारंभिक अवस्था ^{१८}
समाधिपाद -४१ to ५१	समाधि का विकास तथा उसके अवांतर भेद
कैवल्यपाद २ to २४	समाधि और उससे प्राप्त ज्ञान

तीसरा पाद विभूतिपाद होगा जिसमें ३९ सूत्र होंगे। मूल योजना में इसमें ५५ सूत्र हैं।

३. संशोधित विभूतिपाद	
मूल पातञ्जल योग सूत्र संख्या	विषय
कैवल्यपाद १	सिद्धियों के प्रकार ^{१९}
विभूतिपाद ११ to १५	चित्त का परिणाम
विभूतिपाद १६ to ४८	सिद्धिया

१२ तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः -साधनपाद सूत्र (२.१)

१३ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः -साधनपाद सूत्र (२.३)

१४ क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः -साधनपाद सूत्र (२.१२)

१५ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि -साधनपाद सूत्र (२.२९)

१६ ईश्वरप्रणिधानाद्वा-समाधिपाद सूत्र (१.२३)

१७ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा -विभूतिपाद सूत्र(२.१), तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् -विभूतिपाद सूत्र(३.२), तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः-विभूतिपाद सूत्र (३.३)

१८ वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः-समाधिपाद सूत्र (१.१७)

१९ जन्मोषधिमन्वतपःसमाधिजा सिद्धयः -कैवल्यपाद सूत्र (४.१)

यद्यपि कैवल्य पाद ने अपना स्थान बरकरार रखा है पर कुछ सूत्रों को समाधि पाद में स्थानांतरित कर दिया गया है जो कर्म , चित्त तथा पुरुष की क्षमता से संबंधित हैं तथा जो समाधि अवस्था प्राप्त होने के बाद महसूस की जाती हैं।

कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र को सूत्र विभूति पाद से स्थानांतरित किया गया है। इस प्रकार संशोधित कैवल्यपाद में कुल ३१ सूत्र आता है, जो मूल से तीन कम है जिसमें ३४ सूत्र है।

४. संशोधित कैवल्यपाद	
मूल पातञ्जल योग सूत्र संख्या	विषय
साधनपाद १५ to २८	क्लेश ^{२०} तथा उनके कारण और उसके नाश का उपाय
विभूतिपाद ४९ to ५५	विवेक ज्ञान और उसके परमफलस्वरूप कैवल्य का निरूपण
कैवल्यपाद २५ to ३४	विवेक ज्ञान ^{२१} , धर्म मेघ समाधि ^{२२} तथा कैवल्यपाद ^{२३} अवस्था का निरूपण

संक्षेप में यह पतञ्जलि के योग सूत्र को भिन्न परिप्रेक्ष्य में पढ़ने का विनम्र प्रयास है। अलग-अलग पड़ी अवधारणाओं को तार्किक रूप से सुव्यवस्थित कर के समझने का प्रयास है। सूत्र में निहित अन्तर्निहित तार्किक निरंतरता को बनाए रखने की कोशिश की गयी है। यह आधुनिक जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण और क्रमिक विकास के साथ अधिक सुसंगत प्रतीत होता है तथा आधुनिक जीवन शैली और मानसिकता के अनुकूल योग को बेहतर तरीके से लागू करने में मदद कर सकता है। यह संक्षिप्त अवधारणा की ओर ध्यान आकर्षित करने का एक छोटा प्रयास है।

निष्कर्ष (Conclusion)

पतञ्जलि के योग सूत्र न केवल प्राचीन समय के लिए थे, बल्कि आज के समय में भी अत्यधिक प्रासंगिक हैं। अंततः, पतञ्जलि के योग सूत्रों का अनुक्रम इस बात पर निर्भर करता है कि हम योग को किस दृष्टिकोण से देखते हैं। आज के समय में, जहां मानसिक शांति और आत्मज्ञान की ओर बढ़ने की आवश्यकता महसूस हो रही है, इस क्रम में बदलाव हमें गहरी समझ और वास्तविकता के करीब ला सकता है। योग के अनुक्रम को बदलने का सुझाव भी इसीलिए तर्कसंगत लगता है, क्योंकि आज के समय में लोग सबसे पहले मानसिक और शारीरिक अनुशासन की जरूरत महसूस करते हैं।

२० परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः -साधनपाद सूत्र (२.१५)

२१ क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् -विभूतिपाद सूत्र(३.५२)

२२ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकव्यतिर्धर्ममेघः समाधि -कैवल्यपाद सूत्र(४.२९)

२३ पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति -कैवल्यपाद सूत्र(४.३४)

साधनपाद से शुरू करना इस यात्रा को अधिक व्यावहारिक और प्रेरणादायक बना सकता है, क्योंकि यह शुरुआती साधकों को आत्म-अनुशासन और मानसिक शांति की ओर बढ़ने के लिए एक स्पष्ट आधार प्रदान करता है। साधनपाद का अभ्यास आधुनिक जीवन के लिए पहला चरण होना चाहिए, क्योंकि यह व्यक्ति को योग और ध्यान के अभ्यास के लिए मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक रूप से तैयार करता है। यम और नियम से नैतिकता और अनुशासन का विकास होता है, जबकि आसन और प्राणायाम से तनाव, थकान और अस्वस्थता को दूर किया जा सकता है। जब साधनपाद के माध्यम से व्यक्ति मानसिक और शारीरिक अनुशासन प्राप्त कर लेता है, तो वह ध्यान (धारणा और समाधि) की ओर बढ़ सकता है। समाधि पाद में चित्तवृत्तियों के निरोध और मानसिक स्थिरता पर चर्चा होती है, जो आधुनिक जीवन की मानसिक अशांति को समाप्त करने के लिए आवश्यक है। विभूति पाद में वर्णित सिद्धियाँ (जैसे, भविष्य को जानने की क्षमता, सूक्ष्मता की समझ, और मन पर नियंत्रण) आधुनिक जीवन में "मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक शक्तियों" के रूप में देखी जा सकती हैं। जब व्यक्ति मानसिक स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तो वह इन क्षमताओं का सदुपयोग कर सकता है। कैवल्य पाद में व्यक्ति जीवन के सभी द्वन्द्वों (सुख- दुःख, राग-द्वेष) से परे जाकर मुक्ति का अनुभव करता है। यह अध्याय उन लोगों के लिए है, जिन्होंने पहले तीन चरणों को आत्मसात कर लिया है और अब अपने जीवन को उच्चतम आध्यात्मिक उद्देश्य की ओर ले जाना चाहते हैं। आधुनिक जीवन में, इसे आन्तरिक शान्ति, संपूर्णता और स्वयं के साथ संतुलन की स्थिति के रूप में समझा जा सकता है।

- ४ सीढिया उतरने - चढ़ने में श्वास फूलना तथा शारीरिक कठिनाई होना ।
- ५ भूख-प्यास अधिक लगना ।
- ६ अधिक नींद आना ।
- ७ शरीर में थकान का अनुभव होना ।
- ८ शारीरिक ऊँचाई एवं भार के अनुसार भार में दस प्रतिशत से अधिक वृद्धि होना ।
- ९ शरीर में दर्द रहना ।
- १० शरीर में सुस्ती रहना ।

मोटापा के कारण - मोटापे का मुख्य कारण जीवनशैली का अनियमित होना है। हमारी जीवनचर्या में भोजन और शयन समय पर न हो पाने के कारण शरीर प्रभावित होता है। दिनचर्या की अस्त-व्यस्तता के कारण जो दुष्परिणाम सामने आते हैं उनमें मोटापा भी एक है। इसके अतिरिक्त मोटापा को प्रभावित करने के अनेक कारण हैं जो निम्न प्रकार हैं -

- अत्यधिक वसा युक्त आहार - जो व्यक्ति स्वाद इन्द्रिय के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक आहार ग्रहण करते हैं वे व्यक्ति मोटापा रोग से ग्रसित हो जाते हैं। अत्यधिक वसा तथा शर्करायुक्त भोजन करने से मोटापा बढ़ता है।
- दिन में सोने के कारण - सामान्यतः यह देखा गया है कि जो व्यक्ति दिन में सोते हैं तथा रात्रि जागरण करते हैं ऐसे व्यक्तियों में मोटापा होने की सम्भावनाएं होती हैं।
- व्यायाम में कमी होना- व्यायाम का अभाव एवं कार्बोहाइड्रेट का अधिक प्रयोग भी मोटापा का कारण हो सकते हैं।^५
- थायरॉइड ग्रंथि में वृद्धि - मोटापा बढ़ने का एक मुख्य कारण थायरॉइड ग्रंथि बढ़ने को भी माना जाता है। थायरॉइड ग्रंथि से निकलने वाले हार्मोन्स के असंतुलन से भी शरीर के वजन में परिवर्तन आने लगता है।
- वंशानुगत कारण - मोटापा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित हो सकता है। वंशानुगत सिद्धान्तानुसार वर्तमान में जो व्यक्ति मोटापा रोग से ग्रसित हैं उनके पूर्वजों में किसी न किसी को मोटापा अवश्य रहा होगा।
- ज्यादा प्रोटीन युक्त खाना - आहार में प्रोटीन की अधिकता शरीर में वसा वृद्धि का कारण हो सकती है। आज कल लोग इस्टेंट एनर्जी पाने के लिए बार-बार प्रोटीन खाते हैं; जो मोटापा को बढ़ाती है।

५ मूर्ति प्रो. बी. टी. चिदानन्द (२०१०), "साधारण रोगों की यौगिक एवं प्राकृतिक चिकित्सा", केन्द्रिय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, पृष्ठ ३५

मोटापा जनित रोग - मोटापा के कारण शरीर में अनेक जटिलताएँ पैदा होती हैं। व्यक्ति का वजन जितना अधिक होगा उसकी आकस्मिक मृत्यु की सम्भावनाएँ उतनी ही अधिक होती हैं।^६ मोटापा के कारण अनेक तरह के रोग होते हैं जिनमें से कुछ मुख्य निम्न हैं -

- निम्न एचडीएल कोलेस्ट्रॉल
- उच्च ट्राइग्लिसराइडीनिया
- मधुमेह
- स्ट्रोक
- उच्च रक्त चाप
- श्वास से सम्बन्धित समस्याएँ - मोटापा के कारण श्वास रोग की समस्याएँ होने लगती हैं।
- स्लीप एपनिया (सोते समय श्वसन क्रिया में बाधा आना; जिसमें खरटे आते हैं।
- जोड़ों से सम्बन्धित रोग - मोटापा होने से जोड़ों पर दबाव अधिक होने से जोड़ों में दर्द होने लगता है।
- कमर दर्द - मोटापा के अधिक बढ़ने से कमर में दर्द की समस्या होने लगती है।

मोटापा की पंचकर्म चिकित्सा -

पंचकर्म चिकित्सा वर्तमान की सबसे लोकप्रिय चिकित्सा मानी जाती है आयुर्वेद के सभी विद्वानों ने पंचकर्म चिकित्सा का वर्णन बहुत विस्तार से किया है। शरीर शोधन के पाँच कर्मों को पंचकर्म कहा जाता है जिनके माध्यम से शरीर का शोधन करके दोष को बाहर कर दिया जाता है तथा रोगी को स्वास्थ्यलाभ प्रदान किया जाता है। चरक संहिता के सूत्रस्थान में कहा गया है कि जो त्रिदोष को सम करने वाले, रोगों का नाश करने वाले, बल वृद्धि करने वाले, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले इन पंचकर्मों को करने वाला व्यक्ति स्वस्थ और लंबी आयु तक जीवित रहता है^७। आयुर्वेद ग्रन्थों में पंचकर्म चिकित्सा को मुख्य चिकित्सा कहा गया है। आचार्य वाग्भट्ट ने वात रोग में वस्ति, पित्त रोग में विरेचन, तथा कफ रोगों के लिए वमन करने का उपदेश दिया है।^८ पंचकर्म चिकित्सा शरीर का शोधन कर विजातीय तत्वों को शरीर से बाहर निकाल देते हैं जिससे शरीर में विकृत दोष का शमन हो जाता है और रोगी स्वस्थ हो जाता है।

६ डोगरा सुरेन्द्र 'निर्दोष' (२०१२), "मोटापा कारण एवं निवारण", वी एण्ड एस पब्लिशर्स, एफ-२.१६, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली - ११०००२ पृष्ठ

१५.

७ त्रिपाठी, डॉ. ब्रह्मानन्द (२०१९) "चरक संहिता-२" चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी। पृ. ३२०.

८ आचार्य बालकृष्ण (२०१७), "अष्टांग हृदयम्" दिव्य प्रकाशन, पतंजलि योगपीठ, महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली - हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग, उत्तराखण्ड पृ.

१५.

वमन - वमन कर्म को कफ दोष की मुख्य चिकित्सा कहा जाता है। जिसमें रोगी को दूध, छाछ तथा विभिन्न औषधियों का काढ़ा पिलाकर वमन अर्थात् उल्टी कराई जाती है और विकृत दोष को उसके माध्यम से शरीर से बाहर किया जाता है। ऊर्ध्व रोगों के उपचार के लिए किए जाने वाले कर्म को वमन कहा गया है।^९ वमन करने से अमाशय की सफाई होती है, कफ - पित्त आदि बाहर निकल जाता है। पाचन संस्थान सही से कार्य करने लगता है जो मोटापा को बढ़ने नहीं देता है। चयापचय क्रिया सही रहती है जिससे रक्तादि रोग भी नहीं होते हैं।

विरेचन - दोष को अधोमार्ग अथवा गुदा मार्ग से बाहर निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कर्म कहते हैं^{१०}। गुदामार्ग से मल निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कर्म कहा गया है। विरेचन कर्म को पित्त दोष की सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा कहा जाता है^{११}। विरेचन करने से पित्त दोष में साम्यता आ जाती है जिससे भोजन का ठीक से पाचन होने लग जाता है चूंकि पित्त की साम्यता होने से पाचक रसों का स्त्रावण सही मात्रा में होता है जो भोजन को ठीक से पचाने में मदद करते हैं।

वस्ति - वस्ति कर्म के माध्यम से रोगी के गुदा मार्ग में विभिन्न प्रकार के औषधीय काढ़ों को पहुंचाया जाता है तथा रोगों को ठीक किया जाता है वस्ति कर्म पित्त दोषों से उत्पन्न रोगों की मुख्य चिकित्सा कही जाती है^{१२}। वस्ति कर्म के माध्यम से बड़ी आंत की सफाई होती है, जठराग्नि अधिक तीव्र हो जाती है, आहार का पाचन अच्छे से होता है।

नस्य - नासिका मार्ग से विभिन्न प्रकार की औषधियों व चूर्ण को देना नस्य कहा जाता है यह सिर के रोगों अथवा जत्रूऊर्ध्व रोगों की मुख्य चिकित्सा कहा जाता है^{१३}। नासिका में आने वाली सूजन अर्थात् सायनोसाइटिस आदि में यह अत्यंत लाभकारी है। यह निद्रा रोगों को समाप्त करता है जिससे व्यक्ति को समयानुसार नींद आती है तथा जागरण होता है जिसके कारण व्यक्ति आलस्य आदि में नहीं रहता और व्यक्ति मोटापा आदि रोगों से बचा रहता है।

रक्तमोक्षण - शरीर में उत्पन्न विषाक्त अथवा विजातीय तत्वों को रक्त के माध्यम से शरीर से बाहर निकालना रक्तमोक्षण कहलाता है। रक्तमोक्षण में शरीर के उस स्थान से रक्त को निकाला जाता है जहाँ रोग

९ त्रिपाठी, डॉ. ब्रह्मानन्द (२०१९) "चरक संहिता-२" चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी। पृ० १०७२.

१० वही

११ त्रिपाठी, डॉ. ब्रह्मानन्द (२०१९) "चरक संहिता-२" चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी। पृ० ४५३.

१२ आचार्य बालकृष्ण (२०१७), "अष्टांग हृदयम्" दिव्य प्रकाशन, पतंजलि योगपीठ, महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली - हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग, उत्तराखण्ड पृ० १५.

१३ आचार्य बालकृष्ण (२०१७), "अष्टांग हृदयम्" दिव्य प्रकाशन, पतंजलि योगपीठ, महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली - हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग, उत्तराखण्ड पृ० ३७०.

उत्पन्न हो रहा है यह प्रक्रिया अत्यंत सावधानी वाली है। पूर्व में रक्तमोक्षण के लिए जालौका आदि का उपयोग किया जाता था किन्तु अब इसका उपयोग दूसरे यंत्रों की सहायता से होता है। वर्तमान में तो रक्तदान के माध्यम से भी रक्तमोक्षण किया जा रहा है जिससे शरीर से पुराना रक्त निकाल दिया जाता है तथा बाद में बनने वाला रक्त व्यक्ति को स्फूर्ति प्रदान करता है और कोलेस्ट्रॉल आदि नहीं बढ़ने देता जो मोटापा रोग में सहायक है।

मोटापा की षड्कर्म चिकित्सा -

षड्कर्म - मुख्य रूप से षड्कर्म का प्रमुख उद्देश्य शरीर का शोधन करना है जिसके द्वारा शरीर में होने वाले विषाक्त पदार्थों का शरीर से निष्कासन कराया जाता है इसलिए घेरण्ड ऋषि भी कहते हैं कि षड्कर्म से शरीर की शुद्धि होती है।^{१४} स्वामी स्वात्माराम जी कहते हैं कि जिन लोगों में कफ दोष की अधिकता है शरीर स्थूल अर्थात् मोटा है उन्हें षड्कर्म अवश्य करना चाहिए।^{१५} स्थूल रूप से शरीर में विद्यमान विजातीय तत्वों के निष्कासन हेतु षट्कर्मों का प्रयोग किया जाता है।^{१६} षड्कर्म मुख्य रूप से छः हैं जिनका वर्णन हठयोग के सभी ग्रन्थों में सामान्यतः मिलता है। उनके क्रम में परिवर्तन भी मिलता है जैसे हठप्रदीपिका और घेरण्ड संहिता में षट्कर्मों के क्रम में अंतर है। यथा घेरण्ड संहिता के अनुसार धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक तथा कपालभाति का क्रम है^{१७} तथा हठप्रदीपिका में धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौली कपालभाति का क्रम मिलता है^{१८}। स्वामी चरणदास जी षड्कर्म के विषय में कहते हैं कि -

पहिले ये सब साधिए, काया होवे शुद्धि। रोग न लागे देह को, निर्मल होवे बुद्धि ॥^{१९}

अर्थात् पहले इन षट्कर्मों का अभ्यास करके शरीर को साध लीजिये। इनके अभ्यास से किसी प्रकार के रोग शरीर में उत्पन्न नहीं होते तथा बुद्धि भी तीव्र और शुद्ध हो जाती है। हठरत्नावली में श्रीनिवास जी ने षट्कर्म के स्थान पर अष्टकर्म^{२०} बताए हैं अर्थात् आठ क्रियाओं का वर्णन किया है चक्री, नौलि, धौति, नेति, बस्ति, गजकरणी, त्राटक तथा मस्तकभ्रांति आदि आठ कर्म बताए गए हैं। इन आठ कर्मों के माध्यम से शरीर की शुद्धि तथा वात, कफ, पित्त को संतुलन में लाया जाता है।

१४ अनन्त भारती परमहंस स्वामी, (२०१८), घेरण्ड संहिता, चौखम्भा पब्लिशर्स, गोकुल भवन, के. ३७.१९, गोपाल मंदिर लेन, वाराणसी, पृ. ११.

१५ मुक्तिबोधानन्द स्वामी, (२००६), हठयोग प्रदीपिका, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, गंगा दर्शन, मुंगेर बिहार, पृ. १८५.

१६ गिरी, राकेश (२०२१), "स्वस्थवृत्त विज्ञान एवं योगिक चिकित्सा", शिक्षा भारती (उत्तराखण्ड) निकुंज बिहार, आर्य नगर, हरिद्वार-२४९४०४, पृष्ठ १३९.

१७ सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द (२०११), घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर बिहार, भारत, पृ. ८२.

१८ दिगम्बर जी स्वामी एवं झा डॉ. पीताम्बर (२०१७), हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम स्वामी कुवल्यानन्द मार्ग लोनावाला, पुणे महाराष्ट्र पृ. ४५.

१९ भक्तिसागर १८५ ॥

२० Gharote M.L., Devnath P., Jha V.kant (२०१२). Hatharatnavali (४nded.), The Lonavala Yoga Institute (India). B-१७,

Rachna Gardens, Bhangarwadi, Lonavala (India) ४१०४०१.P- १३.

धौती - धौति क्रिया से अमाशय की सफाई की जाती है जिससे कफ बाहर किया जाता है। परिणामस्वरूप कफ, पित्त आदि चर्म रोग, ज्वर कुष्ठ रोग, श्वास रोग नहीं होते।^{२१} धौति के अभ्यास से बीस प्रकार के कफ जनित दोषों का नाश होता है जिसमें से एक मोटापा भी है।^{२२}

वस्ति - गुदा मार्ग से पानी खींचकर बड़ी आंत में कुछ देर रोक कर बाहर निकाल देना वस्ति क्रिया कही गयी है।^{२३} जिससे बड़ी आंत्र की शुद्धि होती है।^{२४} वर्तमान में इसका नया रूप एनिमा है, एनिमा में पाइप की सहायता से पानी बड़ी आंत में भेजकर इस क्रिया का अभ्यास किया जाता है। जिसके अभ्यास से भोजन का अच्छे से पाचन होता है व मोटापा आदि रोग से मुक्ति मिलती है।

नेति - नेति क्रिया द्वारा शीर्ष प्रदेश की सफाई की जाती है, नेति का सम्बन्ध सिर से है, आवाज का पतला या मोटा होना, अच्छी दृष्टि प्राप्त होना नेति के लाभ हैं, नेति के अनेक प्रचलित अभ्यास हैं किन्तु ग्रन्थों में मूल अभ्यास सूत्र नेति है।^{२५} सूत्र नेति के अभ्यास से नासिका में जमा वसा (जिसे आम भाषा में नाक की हड्डी बढ़ना) कहते हैं में आराम मिलता है।

नौलि - नौलि क्रिया जिसे लौलिकी भी कहा जाता है। नौलि में उदर की मांसपेशियों को इधर-उधर घुमाया जाता है जिससे आन्तरिक मालिश होती है जो पाचन संस्थान को सक्रिय करती है, इससे सभी रोगों का नाश होता है और पाचक अग्नि तीव्र होती है।^{२६} पाचन संस्थान के सक्रिय होने पर वह वसा को अच्छे से पचा जाता है जिससे मेद धातु में वृद्धि नहीं होती और व्यक्ति मोटापा से ग्रसित नहीं होता है।

त्राटक - नेत्र दृष्टि को किसी एक बिन्दु पर अश्रु पर्यन्त तक स्थिर करना त्राटक कहलाता है।^{२७} त्राटक के अभ्यास से नेत्र विकार ठीक हो जाते हैं। आँखों पर जमने वाली वसा कम हो जाती है।

कपालभाति - कपालभाति दो शब्दों के मेल से बना शब्द है जिसमें कपाल अर्थात् सिर का अग्र भाग, भाति अर्थात् तेज, कांति आदि। कपालभाति के अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, भोजन सही से पचता है। भोजन के अच्छे से पचने पर वसा एकत्र नहीं होती और व्यक्ति मोटा नहीं होता। घेरण्ड संहिता में कपालभाति को

२१ सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द (२०११), घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर बिहार, भारत, पृ.७२.

२२ दिगम्बर जी स्वामी एवं झा डॉ. पीताम्बर (२०११), हठप्रदीपिका, कैवल्यधाम स्वामी कुवल्यानन्द मार्ग लोनावाला, पुणे महाराष्ट्र पृ. ४६.

२३ यह जो वस्ती कर्म है, गुरु विनपावेनाहिं । लिंग गुदा के रोग जो, गर्मी के नाश जाहिं ।। चरणदासकृत भक्तिसागर ॥

२४ चरणदासकृत, भक्तिसागर, (१९५१), (राजा) राम कुमार - प्रेस , बुक डिपो , लखनऊ, पृष्ठ ५४ ॥

२५ सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द (२०११), घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर बिहार, भारत, पृ.८९.

२६ वही पृ.९७.

२७ वही पृ. १०६.

कफ दोषों की उत्तम शामक बताया गया है एवं तीन प्रकार वातक्रम, व्युत्क्रम, व शीत्क्रम बताए हैं।^{२८} हठप्रदीपिका के अनुसार लुहार की धौकनी के समान होने वाली क्रिया को कपालभाति कहा है जिसके अभ्यास से कफ रोगों का नाश होता है।^{२९}

निष्कर्ष -

उपरोक्त शोध पत्र में मोटापा की योगिक चिकित्सा को सुझाया गया है जिससे कि आमजन को सस्ती और सुलभ चिकित्सा का लाभ प्राप्त हो सके। उपरोक्त शोध पत्र में पंचकर्म चिकित्सा मोटापा को कम करने में लाभकारी सिद्ध होती है मोटापा कफ जन्य रोग है जिसके लिए पंचकर्म के वमन, वस्ति, विरेचन, नस्य तथा रक्तमोक्षण आदि कारगर चिकित्सा हैं। इसी प्रकार हठयोग के षट्कर्म भी मोटापा रोग को कम करने में लाभकारी हैं, धौति, वस्ति, नेति, त्राटक एवं कपालभाति आदि षट्कर्मिय अभ्यास मोटापा कि चिकित्सा में उपयोगी सिद्ध होते हैं। वर्तमान में मोटापा रोग के अधिक तेजी से बढ़ने के पंचकर्म एवं षट्कर्म चिकित्सा अत्यंत उपयोगी हो गयी है।

२८ वही पृ० ५५.

२९ वही पृ० ११३.

संस्कृत वाङ्मय में वर्णित 'सूर्य विज्ञान' की वर्तमान समय में आवश्यकता व उपादेयता

मानवेन्द्र मिश्रा

शोधछात्र, वेद विभाग, गुरुकुल काँगड़ी समविश्वविद्यालय हरिद्वार, उत्तराखण्ड

मेल- manvendramishra३३३@gmail.com

डॉ० रामचन्द्र मेघवाल

सहायक आचार्य, वेद विभाग, गुरुकुल काँगड़ी समविश्वविद्यालय हरिद्वार, उत्तराखण्ड

मेल- aramchandra३१८@gmail.com

जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर यथा योग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम 'विद्या' है।^१ संस्कृत वाङ्मय ज्ञान का अगाध सागर है, जिसमें बहुमूल्य रत्न यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, यदि उन रत्नों को विषयानुसार व्यवस्थित रूप में संकलित कर उनका विवेचन किया जाए तो विज्ञान सम्बन्धी अनेकों सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हमें प्राप्त हो सकता है। वेदों-पुराणों का परिशीलन करने पर अनेकों ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जो आधुनिक विज्ञान सम्मत हैं, जिससे पता चलता है कि आज के वैज्ञानिक महायन्त्रों के प्रयोग से जिन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं उन सिद्धान्तों को सैकड़ों- हजारों वर्षों पूर्व हमारे ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा जान लिया था तथा ग्रन्थों में सूत्र रूप में निबन्धित भी किया था। वर्तमान समय में केवल उन सूत्रों का स्पष्ट विवेचन तथा परिशीलन कर उन्हें स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है। जिससे न केवल हमारा जीवन लाभान्वित होगा अपितु आधुनिक विज्ञान के नवीन अन्वेषणों को भी दिशा मिलेगी।

संस्कृत वाङ्मय के बृहद् ज्ञान भण्डार का ऐसा ही एक रत्न है 'सूर्य-विज्ञान', वर्तमान में वैज्ञानिक सूर्य के बारे में और अधिक ज्ञान अर्जित करने का प्रयास कर रहे हैं। निरन्तर कृत्रिम उपग्रहों के माध्यम से सूर्य का निरीक्षण- सर्वेक्षण कर रहे हैं। ऐसे में यदि संस्कृत वाङ्मय में वर्णित सूर्य सम्बन्धी विवरणों-तथ्यों को संकलित कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विवेचित किया जाए तो यह आधुनिक अनुसन्धानों के लिए अत्यन्त उपकारक तथा मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

सूर्य विज्ञान को समझने के लिए सर्वप्रथम सूर्य तथा सूर्य से सम्बन्धित अन्य शब्दों को समझने की आवश्यकता है, वेदों में सूर्य के लिए सूर्य, सविता, आदित्य, पूषा आदि अनेकों शब्दों का प्रयोग हुआ है ये शब्द सन्दर्भानुसार कभी सूर्य के समानार्थी तथा कभी सूर्य से सम्बन्धित देवताओं के लिए प्रयोग किए गए हैं, ये शब्द स्वयं में अनेकों भिन्न-भिन्न अर्थों को समाए हुए हैं, यदि निर्वचन की दृष्टि से देखा जाए तो सूर्य का प्रत्येक नाम स्वयं में एक रहस्य- एक विशेष अर्थ को समाहित किए हुए है, उदाहरण के लिए सर्वप्रथम 'सूर्य' नाम को ही लेते

हैं तो सूर्य शब्द का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं- सरतेर्वा । सुवतेर्वा ।^२ यहाँ निरुक्तकार ने सूर्य के दो निर्वचन दिए हैं, प्रथम सरतेर्वा- यानी जो सरण करता है, सरकता है, चलता है, यह सरण शब्द 'सृ' धातु से बना है जो गत्यर्थक है, यानि अन्तरिक्ष लोक में सरण करने के कारण ही सूर्य को इस 'सूर्य' नाम विशेष से कहा जाता है, यास्क का यह मत आधुनिक विज्ञान से अत्यधिक मेल खाता है, क्योंकि एक लम्बे समय तक यह माना जाता रहा कि सूर्य स्थिर है, परन्तु २० वीं शताब्दी में खगोलशास्त्री 'हार्लो शोपली' ने आकाशगंगा के आकार तथा सूर्य की स्थिति का अनुमान लगाने के लिए जब 'सेफिड वेरिबल' सितारों का अध्ययन किया तब यह बात आधुनिक विज्ञान के समक्ष आई कि सूर्य भी निरन्तर आकाशगंगा की परिक्रमा कर रहा है ।

परिभ्रमण का सिद्धान्त-

हार्लो शोपली के शोध से पूर्व एक लम्बे समय तक यह मान्यता भी थी की पृथ्वी स्थिर है तथा सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है, इस मान्यता का खण्डन करते हुए सर्वप्रथम 'निकोलस कोपरनिकस' ने कहा कि- वस्तुतः पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती है ।^३ परन्तु इसी बात को सहस्रों वर्षों पूर्व यजुर्वेद में कह दिया गया था-

आयं गौः पृश्निक्रमीद् असदन् मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥^४

“यह गौरूपी पृथ्वी सूर्य के चारों ओर अपने योनिरूप जलों को साथ लेकर घूमती है ।” यहाँ गौ शब्द से पृथ्वी, असदत् से पृथ्वी के परिभ्रमण की कक्षा, अक्रमीद् से परिभ्रमण तथा स्वः शब्द से सूर्य अर्थ किया जाता है ।^५ न केवल पृथ्वी बल्कि सौरमण्डल में स्थित सारे ग्रह तथा उपग्रह भी सूर्य के ही चारों ओर घूमते हैं इस बात का वर्णन ऋग्वेद के एक मन्त्र में किया गया है जिसका अर्थ करते हुए 'कपिलदेव द्विवेदी' अपनी पुस्तक 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति' में लिखते हैं- 'जिस प्रकार पाँच तीलियों वाला एक पहिया घूमता है उसी प्रकार ग्रह आकर्षण बल से बंधे हुए सूर्य के चारों ओर घूमते हैं इनकी धुरी कभी भी बल से नहीं फटती, क्योंकि यह चक्र अनादि काल से गुरुत्व केंद्र के सन्तुलन पर निरन्तर चल रहा है ।'^६

ग्रहों के परिभ्रमण का यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान जगत में 'जोहोन्स केप्लर' ने सन् १६०१ तथा १६१९ में अपने दो निबन्धों के माध्यम से रखा, उनके द्वारा प्रतिपादित ३ नियमों में से प्रथम नियम कहता है कि 'ग्रह सूर्य का परिभ्रमण एक दीर्घ वृत्त में करते हैं तथा सूर्य उसकी नाभि (केंद्र) में स्थित है ।'^७

२ निरुक्त- १२ ।२ ।९, आचार्य यास्क, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशंस, नई दिल्ली २०१९

३ Commentariolus-१५३०

४ यजुर्वेद संहिता- ३.६, संस्कृत साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली, २०१५

५ वैदिक साहित्य एवं संस्कृति- कपिल देव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २०२१

६ पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्न तस्थुर्भुवनानि विश्वा । तस्य नाक्षस् तप्यते भूरिभारः सनाद् एव न शीर्यते सनाभिः ॥ ऋग्वेद संहिता १ ।१६४ ।१३

७ De Motibus Stellae Martis- १६०१

केप्लर के इसी नियम का समर्थन करते हुए 'न्यूटन' ने 'सार्वभौमिक गुरुत्वाकर्षण का नियम' दिया जो सूर्य के चारों ओर ग्रहों की परिभ्रमण कक्षाओं को स्पष्ट करता है।

ओजोन परत-

ओजोन परत पृथ्वी के समताप मण्डल में स्थित ओजोन गैस की एक परत है जो सूर्य से पृथ्वी पर आने वाली अधिकांश पराबैंगनी किरणों को अवशोषित कर लेती है, ये किरणें मनुष्यों में त्वचा कैंसर जैसे अनेकों रोगों का कारण तो बनती ही हैं साथ ही वनस्पतियों को भी क्षति पहुँचाती हैं। आधुनिक विज्ञान जगत में इस ओजोन परत की खोज 'चार्ल्स फैब्री' तथा 'हेनरी बुइसन' ने वर्ष १९१३ में की थी। इस ओजोन परत का वर्णन ऋग्वैदिक मन्त्र में भी मिलता है जिसका भाष्य करते हुए 'पं. हरिशरण सिद्धान्तालंकार' लिखते हैं- 'सूर्य का प्रकाश रजसा द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में स्थित अन्तरिक्ष लोक से आवृत होकर पहुँचता है। इस प्रकार हम प्रचण्ड किरणों से झुलस नहीं जाते'।^९

सूर्य की किरणें-

अथर्ववेद में सूर्य की सात किरणें होने का वर्णन आता है।^{१०} ये सात किरणें ही गहरे, मध्यम तथा हल्के भेद से तीन प्रकार के रंगों में विभक्त हो कर २१ प्रकार की हो जाती हैं।^{११} पुराणों में यही सात किरणें सूर्य के रथ के सात घोड़ों के रूप में दिखाई गई हैं।^{१२}

आधुनिक विज्ञान में सूर्य के भीतर इन सात किरणों को खोजने का श्रेय "न्यूटन" को दिया जाता है जिसने सन् १६६६ में इन किरणों तथा इनके विभिन्न रंगों की खोज की तथा इन्हें "स्पेक्ट्रम" नाम दिया, ये सात रंग इन्द्रधनुष में दिखने वाले लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला तथा बैंगनी रंग है। कालान्तर में पराबैंगनी, अवरक्त, गामा, रेडियो तथा माइक्रो जैसी अनेकों किरणों की खोज हुई ये सभी किरणें विद्युत चुम्बकीय तरंगें हैं, ये तरंगें धनात्मक तथा ऋणात्मक उर्जाओं से युक्त होती हैं।

वेदों में भी स्थान- स्थान पर विद्युत चुम्बकीय तरंगों तथा सूर्य के साथ इनके सम्बन्ध का वर्णन पाया जाता है, ऋग्वेद के एक मन्त्र का अर्थ करते हुए डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति' में विद्युत तरंगों में विद्यमान धनात्मक आवेश को 'मित्र' तथा ऋणात्मक आवेश को 'वरुण' कहा है साथ ही बताया है की इनके मिलन से ही सूर्य की किरणों में विद्युत् प्रवाह होता है।^{१३}

८ फिलोसफी नेचुरेलिस प्रिंसिपिया मैथेमेटिका- १६८७

९ सूर्यस्य चक्षु रजसरावृतम् ।। ऋग्वेद संहिता १।१६४।१४

१० अब दिवस्तायन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।। अथर्ववेद संहिता ७।१०७।१

११ ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः । अथर्ववेद संहिता १।१।१

१२ श्रीमद्भागवत पुराण ५।२१।१५

१३ प्र यो वां मित्रावरुणाजिरो दूतो अद्रवत् । अयःशीर्षा मदेरधुः ।। ऋग्वेद संहिता ८।१०१।३

सूर्य से चन्द्रमा में प्रकाश -

यजुर्वेद के एक मन्त्र में सूर्य की सुषुम्णा नामक किरण से चन्द्रमा का प्रकाशित होना भी बताया गया है।^{१४}

इसी बात को निरुक्तकार ने भी अपनी कृति में अपने शब्दों में कहा है- 'सूर्य की रश्मि से चन्द्रमा प्रकाशित होता है।'^{१५}

सौर ऊर्जा-

सूर्य रश्मियों से सौर ऊर्जा का निर्माण करने का वर्णन सर्वप्रथम ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में मिलता है। वेदों में इस अनुसन्धान का श्रेय इन्द्र, गन्धर्व तथा वसु जिन्हें संयुक्त रूप में 'त्रित' कहा गया है, को दिया जाता है। वेदों के अनुसार इन्द्र ने सौर विद्या का ज्ञान प्राप्त किया, गन्धर्वों ने इस विद्या का परिक्षण किया तथा वसुओं ने सफलता पूर्वक इसका प्रयोग किया।^{१६}

सम्भवतः यह एक संयोग है कि आधुनिक विज्ञान के युग में भी सौर ऊर्जा इसी क्रम में विकसित हुई फ्रांसीसी भौतिक वैज्ञानिक 'एडमण्ड बेकरेल' ने १८३९ ई० में एक संवाहक समाधान में धातु इलेक्ट्रोड से बने सेल के साथ प्रयोग करते हुए फोटोवोल्टिक प्रभाव की खोज की, उनका मानना था कि यह सेल सूर्य के प्रकाश से बिजली का उत्पादन कर सकता है, १८७३ में 'विलाबी स्मिथ' ने उनकी मान्यता की पुष्टि की, १८७६ में 'विलियम ग्रिल्स' ने इसका परिक्षण किया तथा १८८३ में अमेरिकी अविष्कारक 'चार्ल्स फ्रिट्ज' ने पहला कार्यशील सेलेनियम सेल बनाया जो सूर्य किरणों से बिजली का उत्पादन करने कि क्षमता रखता था।

सूर्य में गैसों-

आज के विज्ञान के माध्यम से हम जानते हैं कि सूर्य में हाइड्रोजन, हीलियम, आक्सीजन, कार्बनडाई ऑक्साइड जैसी विभिन्न गैसें मौजूद हैं, परन्तु वैदिक काल में 'ऋषि दीर्घतमस' ने सूर्य के चारों ओर शक्तिशाली धूम (गैस) होने का वर्णन किया है।^{१७}

आधुनिक विज्ञान में सूर्य पर हीलियम खोजने का श्रेय 'नॉर्मन लाकयर' (१८९४ में) तथा हाइड्रोजन की खोज का श्रेय 'सेसिलिया पायने' (१९२५ में) को दिया जाता है। ये दो गैसों सूर्य पर सर्वाधिक मात्रा में हैं जिसमें हाइड्रोजन ७३.४६% तथा हीलियम २४.८५% हैं।

१४ सुषुम्णा: सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः । यजुर्वेद संहिता १८।४०

१५ अथाप्यसौ रश्मिश्चंद्रमसं प्रति दीव्यति । आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवती ।।

१६ यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अद्यतिष्ठत् । गन्धर्वो अस्य रशनामगुणात्सूरादथं वसवो निरतष्ट ॥ ऋग्वेद-१।१६३।२; यजु०२९।१३

१७ शकमयं धूमं आराद् अपश्यम्, विषुवता पर एनावारेण । ऋग्वेद १।१६४।४३

भारतीय जीवन शैली में अर्थशास्त्र की लोकोपादेयता

शुभम शर्मा

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,

मो.नं.- ८८३९००८५१७, Email ID- shubhamsharma@ip.du.ac.in

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' का अद्वितीय स्थान है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति का सबसे अधिक स्पष्ट, वैचारिक एवं विस्तृत ग्रन्थ है जिसके आधार पर तत्कालीन राजनीतिक विचारों एवं भारतीय जीवन पद्धति की शैली का परिचय प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र के निर्वचन को सामाजिक जीवन शैली के आधार पर निर्धारित करते हुए आचार्य कौटिल्य कहते हैं- मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रम् अर्थशास्त्रमिति।^१ अर्थात् 'अर्थ' शब्द मानवों की गतिविधि या मानव-युक्त पृथ्वी (राज्य) का बोधक है। उसे प्राप्त करने और पालन (रक्षा) करने उपाय के रूप में जो नियम हैं वही 'अर्थशास्त्र' है। आचार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथम वाक्य में सम्पूर्ण जीवन शैली का आधारभूत शास्त्र अर्थशास्त्र को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं- पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।^२

भारतीय जीवन शैली में अर्थशास्त्र प्रतिपादित विषयों की अनुकरणीयता-

सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन,

पुरुषार्थ-चतुष्टय की अनुकरणीयता,

सामाजिक व्यवस्था में दण्डप्रयोग के प्रकार

इत्यादि रूपों में भारतीय जनमानस में कौटिल्य अर्थशास्त्र का महत्त्व दृष्टिगोचर होता है।

सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन-

आचार्य कौटिल्य ने यद्यपि राजा एवं राजपुत्रों को उद्देश्य करके ही शास्त्र का प्रणयन किया है तथापि वे सारे सिद्धान्त सामान्य-जन के लिए भी उपयोगी हैं। यदि उस प्रकार से आचरण किया जाये तो मानव जीवन सुखमय हो सकता है। राजा के कर्तव्य का प्रतिपादन किया है, तो अमात्य, मन्त्री, पुरोहितादि के कर्तव्यों का भी निर्देश किया गया है। प्रजा को राजा तथा राष्ट्र के प्रति किस प्रकार की भावना, आचरण तथा व्यवहार होना चाहिए, जिससे एक स्वस्थ सामाजिक वातावरण तैयार हो सके तथा समाज सुख समृद्धि से युक्त हो। राजा को

१ अर्थशास्त्रम् १.५.१.१

२ अर्थशास्त्रम् १.१.१

सर्वदा उद्योगयुक्त होना चाहिए तभी प्रजा भी उद्योगी (प्रगतिशील) होगी। राजा प्रगतिशील नहीं है, तो प्रजा भी प्रगतिरहित हो जायेगी, जिससे राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह पायेगा। यथा- तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्। स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥३॥ इस प्रकार सभी को कर्तव्यपारायण होने का निर्देश दिया है। पुरुषार्थ-चतुष्टय की अनुकरणीयता-

प्रजा के नियमन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की विभिन्न शास्त्रों में चर्चा की गयी है। आचार्य कौटिल्य धर्म, अर्थ, काम को लोक का नियामक तत्त्व स्वीकार करते हैं। धर्म और अर्थ के अनुसार ही काम का सेवन करना चाहिए तथा पूर्णरूप से निस्सुख भी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि सुखयुक्त पुरुष ही सांसारिक गतिविधियों को नजदीकी से जान सकता है। तीनों का सम-रूप में भोग करना चाहिए एवं किसी एक के अधिक सेवन से स्वयं को ही कष्ट होगा। आचार्य कौटिल्य पूर्वोक्त पुरुषार्थों में अर्थ की ही प्रधानता स्वीकृत करते हैं, क्योंकि धर्म और काम अर्थमूलक ही होते हैं। धर्मार्थविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखं स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति। अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलो हि धर्मकामाविति। ४

सामाजिक व्यवस्था में दण्डप्रयोग के प्रकार-

राज्य-सञ्चालन के लिए दण्डनीति का होना आवश्यक है। अन्य आचार्यों के मतों को बताते हुए अपना मत भी बताया है कि 'चतस्र एव विद्येति कौटिल्यः'। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। ५ यद्यपि दण्डनीति से सभी विद्याएँ व्यवस्थित रहती हैं, तथापि उद्वेगजनक दण्ड का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए। लोकवन्दनीय दण्ड का ही राजा प्रयोग करे जैसा कि कालिदास ने भी कहा है कि- 'यथापराध दण्डानाम्'। ६ पहले अपराधी का अपराध सुनिश्चित करना चाहिए, उसके पश्चात् अपराध के अनुसार एवं देश, काल, शक्ति आदि के विषय में सम्यक् विचार करके दण्ड का प्रयोग करना चाहिए; तभी प्रजा सुप्रसन्न रहती है। इसीसे प्रजा में राजा के प्रति विश्वास बढ़ता है। चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः। स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मषु ॥७

पूर्वोक्त अर्थशास्त्र प्रतिपादित विषय भारतीय जनमानस में नीरक्षीररूप से विद्यमान है। भारतीय जनमानस के अन्तःमन में आज भी पुरुषार्थ का महत्व है और जिस आश्रम में वह निवास कर रहा होता है वहाँ पूर्णरूप से पुरुषार्थों का परिपालन करता है। पुरुषार्थों के सम्यक् पालन से मोक्ष की सिद्धि होना शास्त्रों में वर्णित है। दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा को भयाक्रान्त करकर मर्यादोचित कार्य करने में प्रेरित करता है। मनुस्मृतिकार दण्ड की महिमा

३ अर्थशास्त्रम् १.३.१६

४ अर्थशास्त्रम् १.७.६

५ अर्थशास्त्रम्, १.२.८

६ रघुवंशम्, १.६

७ अर्थशास्त्रम्, १.४.१९

को बतलाते हुए कहते हैं कि 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुतेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः ॥ ८ अतः आजके सम्पूर्ण भारतीय जीवनशैली में अर्थशास्त्र का महत्त्व पूर्णरूप से अनुस्यूत है । जीवन की मानवीय शैली शास्त्र और धर्मपूर्वक हो यही मानवीय जीवन की अमूल्य निधि है ।

अर्थशास्त्र न केवल यह ज्ञान कराता है कि हम धर्मपूर्वक राज्य में कैसे जीवन का निर्वाह करें अपितु मानवीय जीवनचर्या के विविध आयामों को सारगर्भित रूप से प्रस्तुत करता है -
अर्थशास्त्र में लोक-कल्याणकारी राज्य-व्यवस्था-

भारतीय परम्परा में राज्य को समाज का मूल माना गया है क्योंकि राज्य वह संस्था है अथवा सामाजिक उपागम है जिसके पास विधि-सम्मत बल प्रयोग की शक्ति होती है एवं इसी के भय से ही समाज में व्यवस्था रहती है- सर्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः सम्प्रवर्तकः । तस्याभावे धर्मनाशस्तदभावे अगच्छुतिः ॥९ महाभारत में भी राज्य को समाज का हृदय, गति तथा प्रतिष्ठा एवं सुखदाता कहा गया है- राजा प्रजानां हृदयं गगरियो । गतिः प्रतिष्ठासुखमुक्तं च ॥ आचार्य कौटिल्य ने राज्य की व्यवस्था के लिए दण्ड को सबसे मुख्य रूप में स्वीकृत किया है इसके अभाव में शक्तिशाली जन अपने से हीन व्यक्तियों को शोषित करते हैं- अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायभावमुद्गावयति । बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे ॥१० वर्तमान में यदि राजा भारतीय जीवन शैली में अर्थशास्त्र वर्णित इस नीति का अनुपालन करे तो प्रजा कभी दुःखी रह ही नहीं सकती- प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हितेहितम् । नात्मप्रियं हितं तस्य प्रजानान्तु प्रियं हितम् ॥११

राज्य के आर्थिक विषयों को लेकर आचार्य कौटिल्य ने जीवन को निर्वाह करने का मार्ग प्रशस्त किया है वर्तमान आर्थिक नीति भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रभावित है-

राज्य की आर्थिक नीति-

कौटिल्य की आर्थिक नीति आज के भारतीय आर्थिक-नीति की तरह पंचवर्षीय योजना पर आधारित नहीं थी क्योंकि ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है । जैसा कि ज्ञात है कि कोई नियोजन लागू किया जाता है तो उसका आधार-वर्ष निर्धारित किया जाता है । इस आधार पर एक वर्ष को दृष्टि में रखकर वार्षिक योजनाएँ प्रचलित रहीं होंगी । कौटिल्य के आर्थिक नियोजन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे-

१. राज्य विभागों की आन्तरिक सुरक्षा बनी रहे ।
२. राज्य को सर्व साधन सम्पन्न बनाना जिससे राज्य का चौमुखी कल्याण एवं विकास हो ।

८ मनुस्मृतिः, ७.१८

९ कामन्दक नीतिसारः, २.३५

१० अर्थशास्त्रम्, १.४.८

११ अर्थशास्त्रम्, १.१४.१८

३. ग्रामीण एवं शहरी लोगों की जीविका के साधन को सुरक्षा प्रदान करना ।

४. आत्मनिर्भर बनाना

इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने उद्योग के विषय में वर्णन किया है, जिसके द्वारा व्यापार एवं पूँजी निर्माण का विकास होता है। मजदूर वर्ग व मालिक के बीच अच्छा संबंध होना चाहिए आय का समान वितरण हो एवं सामाजिक न्याय की प्राप्ति हो। वे एक ऐसे अनुशासित राज्य की स्थापना करना चाहते थे, जो मानव की उन्नति तथा अस्तित्व को आवश्यकता अनुसार संतुलन बनाए रखने के लिए तत्पर रहे।

इस सिद्धान्त को पूर्ण करने के लिए आचार्य कौटिल्य ने दण्डनीति (शासन) पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार दण्डनीति ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है, प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करती है तथा रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है एवं संवर्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश देती है। उसी पर विश्व की सारी यात्रा निर्भर है। अतः राजा लोक को समुचित मार्ग पर लाने के लिए दण्ड का ठीक प्रकार से प्रतिपादन करे- नीतिः दण्डनीतिः।अलब्धलाभार्था, लब्धपरिरक्षणी, रक्षितविवर्धनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च ॥१२

प्रान्तीय प्रशासन का स्वरूप

केन्द्र



प्रान्त (प्रमुख अधिकारी 'कुमार' या आर्यपुत्र)



मण्डल (कमिश्नरी)- प्रमुख अधिकारी प्रदेष्टा या प्रादेशिक होता है।



आहार या विषय (जिला) प्रमुख अधिकारी विषयपति या स्थानिक होता था।



स्थानीय (८०० ग्रामों का समूह)



द्रोणमुख (४०० ग्रामोंका समूह)



स्वार्वटिक (२०० ग्रामों का समूह)



संग्रहण (दश ग्रामों का समूह)-इसका प्रमुख अधिकारी गोप होता था।



ग्राम (प्रमुख अधिकारी ग्रामणी)

अतः कौटिल्य प्रतिपादित भू-नीति, कृषि एवं पशुपालन नीति, नगर नियोजन नीति, उद्योग नीति, सामाजिक नीति इत्यादि आर्थिक नीति के अङ्ग हैं।

अर्थशास्त्र का व्यापक प्रभाव -

लोक जीवन के आदर्श के रूप में उपस्थापित संस्कृत साहित्य के कतिपय ग्रन्थकारों कि कृतियों पर अर्थशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव है, जिससे उसकी सार्वभौम मान्यता का सहज में ही ज्ञान हो जाता है। ई.पू. प्रथम शताब्दी में वर्तमान संस्कृत के सुपरिचित महाकवि कालिदास से लेकर याज्ञवल्क्य, वात्स्यायन, विष्णुशर्मा, विशाखदत्त तथा बाण प्रभृति महाकवियों, स्मृतिकारों गद्यकारों और नाटककारों की सातवीं शताब्दी ई. तक की रची गयी कृतियाँ अर्थशास्त्र से प्रभावित हैं। आचार्य दण्डी का कथन है कि आचार्य विष्णुगुप्त विरचित उस दण्डनीति का अध्ययन करो, जिसको उन्होंने मौर्य (चन्द्रगुप्त) के लिए छह हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया-

अधीष्व तावदण्डनीतिम् । तदिदमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता । सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमानयथोक्तकार्यक्षमेति ।। भारवि एवं माघ ने अर्थशास्त्र के विषयों को अपने-२ काव्यों में महत्वपूर्ण स्थान दिया । भगवान् श्रीकृष्ण के माध्यम से कवि माघ कहते हैं कि पथ्य (अपने हित एवं स्वास्थ्य) को चाहने वाले मनुष्य को बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । क्योंकि बढ़ते हुए रोग एवं शत्रु को नीतिशास्त्र के विद्वानों ने समान (हानिकारक) बताया है-

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता। समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च॥^१

आचार्य भारवि किरातार्जुनीय प्रथम सर्ग के वनेचर प्रसंग में दूत के सम्यक् गुणों का प्रतिपादन करते हैं कि दूत के द्वारा बताया हुआ सन्देश प्रिय हो या अप्रिय राजा द्वारा अवश्य ग्राह्य होना चाहिए और वाणी भी ऐसी हो हितकारक भी हो तथा मनोहर भी-

क्रियासु युक्तैर्नृपचारचक्षुषो न वञ्जनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।

अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥^२

१३ शिशुपालवधम्, २.१०

१४ किरातार्जुनीयम्, १.४

पूर्वोक्त अर्थशास्त्र प्रतिपादित विषय भारतीय जनमानस में नीरक्षीररूप से विद्यमान है। अतः यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि भारतीय जीवन के हर एक अङ्ग में नीति-तत्त्वों का महत्वपूर्ण स्थान हैं। अर्थशास्त्र धर्म पूर्वक शास्त्र के पालन के निर्देश से जनमानस को सत्य के मार्ग पर चलने को अभिभूत करता है। सत्यमेव जयति नानृतम् जैसे श्रुतिवाक्यों का बोध अर्थशास्त्र के सम्यक् ज्ञान द्वारा ही लोकग्राह्य सिद्ध होता है। राजा लोक को समुचित मार्ग पर लाने के लिए दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग करे जिससे समाज-व्यवस्था सुचारू रूप से अनवरत चलती रहे।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची -

१. कौटिल्य. अर्थशास्त्रम्. (व्या.) उदयवीर शास्त्री. लाहौर : अमृत प्रेस, १९२५.
२. मनु. मनुस्मृति. (व्या.) तुलसीराम स्वामी. मेरठ : अध्यक्ष स्वामी प्रेस मेरठ शहर, १९८५.
३. कालिदास. रघुवंशम्. (व्या.) कृष्णमणि त्रिपाठी. वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१६
४. माघ. शिशुपालवधम्. (व्या.) रामजीलाल. वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१३
५. भारवि. किरातार्जुनीयम्. (व्या.) श्रीनिवास. वाराणसी : भारतीय विद्या प्रकाशन, २०१३
६. कामन्दक नीतिसार. (व्या.) दिनेश. वाराणसी :संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, २०१६

वैदिकी अर्थव्यवस्था: आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

सचिन

शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Email - grsachinb@gmail.com

प्रभात कुमार

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, डी.ए.वी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बुलन्दशहर

Email - prabhprabhatam@gmail.com

शोधसार -

भारतीय अशेषशेषमुषीसम्पन्न मनीषियों ने मानव जीवन को इहलोक एवं परलोक दोनों में सुखमय बनाने के लिए पुरुषार्थ-चतुष्टय की कल्पना की। आचार-विचार को व्यवस्थित करने वाले न केवल धर्मशास्त्रों ने अपितु नीतिशास्त्र, काव्यशास्त्रों ने भी अपने अध्ययन का प्रयोजन चतुर्वर्ग की प्राप्ति को ही माना है। भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ-चतुष्टय में यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को समान गौरव प्रदान किया है तथापि विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यावहारिक धरातल पर अर्थ की मान्यता सर्वोपरि है। चरैवेति-चरैवेति की भावना की सुखद यात्रा के लिए अर्थ अपरिहार्य है। आज सर्वत्र धन की प्राप्ति के प्रयास में धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य एवं कर्तव्य-अकर्तव्य की भावना का विनाश हो गया है। सर्वत्र ही कथञ्चित् प्रयास से कैसे धन का अर्जन हो सकता है, इसी में अहर्निश समय व्यतीत हो रहा है। प्राचीन अर्थव्यवस्था में कृषि, वाणिज्य, पशु, शिल्पकला के द्वारा धनोपार्जन का पथ प्रदर्शित किया गया है। आज धन कमाने के लिए किसी भी अनुचित वृत्ति का उपयोग किया जा रहा है, अनुचित साधन को अपनाया जा रहा है किन्तु वेद मन्त्र इसप्रकार के उपार्जित वृत्ति को, अनुचित रूप से कमाए धन को हेय मानता है और प्रार्थना करता है 'इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि देहि।'

जहां भोगवादी संसार में आज अर्थलिप्सु लोग अन्य तीन पुरुषार्थों को छोड़कर एकमात्र अर्थ के लिए ही प्रयासरत हैं, उस राष्ट्र की प्रगति अवश्य ही असम्भव है। इसलिए आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था को छोड़कर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के उद्घोष को पुनः जीवन्त बनाने के लिए वैदिक अर्थव्यवस्था ही एकमात्र साधन है।

प्रमुख शब्द : पुरुषार्थ-चतुष्टय, अर्थ, अर्थ-व्यवस्था, पूंजीवाद।

भारतीय अशेषशेषमुषीसम्पन्न मनीषियों ने मानव जीवन को इहलोक एवं परलोक दोनों में सुखमय बनाने के लिए पुरुषार्थ-चतुष्टय की कल्पना की। आचार-विचार को व्यवस्थित करने वाले न केवल धर्मशास्त्रों ने अपितु नीतिशास्त्र, काव्यशास्त्रों ने भी अपने अध्ययन का प्रयोजन चतुर्वर्ग की प्राप्ति को ही माना है-

चतुर्वर्गफलप्राप्तिसुखादल्पधियामपि। काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।^१

भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ-चतुष्टय में यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को समान गौरव प्रदान किया है तथापि विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यावहारिक धरातल पर अर्थ की मान्यता सर्वोपरि है। क्योंकि जिसके पास धन है, वही कुलीन कहलाता है, वही पण्डित, वही गुणवान् होता है अर्थात् सभी गुण धन के आश्रय ही रहते हैं-

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञः ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ते ।।^२

चरैवेति-चरैवेति की भावना की सुखद यात्रा के लिए अर्थ अपरिहार्य है, इस सत्य को कभी-भी नकारा नहीं जा सकता है। धनाभाव में व्यक्ति अहर्निश चिन्ताव्याधि से युक्त रहता है, न वह परमात्मा की उपासना कर सकता है और न ही जीवन की अन्य क्रियाएं। इसलिए प्रायः सभी स्तोत्रकारों ने अपने स्तोत्र के अन्त में पुरुषार्थ त्रयी में अन्यतम अर्थलाभ की चर्चा की है।^३ रावण 'शिवताण्डवस्तोत्र' में शम्भु की स्तुति करता हुआ कहता है कि- तस्य स्थिरां रथगजेन्द्रतुरङ्गयुक्ताम्, लक्ष्मी सदैव सुमुखीं प्रददातु शम्भुः।^४

अर्थ का स्वरूप- अर्थ शब्द की निष्पत्ति अर्थ याच्याम् धातु से अच् प्रत्यय करके होती है। जिसकी व्युत्पत्ति 'अर्थ्यते आकाङ्क्षतेऽर्थिभिस्तदर्थो नाम ।'

निरुक्त में अर्थ के २७ पर्यायवाची नामों का परिगणन किया है जो कि इस प्रकार हैं- "मघम्, रेक्ण, रिक्थम्, वेदः, वरिव, श्वात्रम्, रत्नम्, रयिः, क्षत्रम्, भगः, मीलुहम्, गयः, नृम्णम्, तना, बन्धुः, इन्द्रियम्, वसु, रायः, राधः, भोजनम्, मेध्य, यश, ब्रह्म, द्रविणम्, श्रवः, वृत्रम्, वृतम्" इत्यादि।

अर्थ शब्द अन्य भी अनेक अर्थों में प्राप्त होता है जैसा कि कालिदास ने रघु के दिग्विजय के क्रम में उपमा देने के लिए प्रार्थना या याचना के अर्थ में प्रयोग किया-

अवकाशं किलोदन्वान् रामायाम्यर्थितो ददौ, अपरान्त महीपालव्याजेन राघवे करम् ।।^५

अर्थ शब्द को प्रयोजन के अर्थ के रूप में भी प्राप्त करते हैं। वस्तु या विषय के लिए भी अर्थ शब्द का प्रयोग होता है।^६

उपर्युक्त अभिप्रायों के अतिरिक्त 'अर्थ' शब्द को स्पष्ट करते हुए आचार्य वात्स्यायन ने लिखा है-

विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जितस्य विवर्धनमर्थः ।^७

२ नीति-४

३ सुवर्णधारास्तोत्रं यच्छङ्कराचार्यनिर्मितम् । त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नित्यं स कुबेरसमो भवेत् । बृहदस्तोत्र रत्नाकरः-पृ-२२

४ बृहदस्तोत्र रत्नाकरः-पृ-१५३

५ रघुवंश-४.५८

६ अर्थो हि कन्या परकीय एव--- । अभिज्ञान-४.२२

७ कामसूत्र-१.२.९

अर्थात् विद्या, भूमि, सोना, पशु, अन्न, बर्तन, उपस्कर, मित्र आदि का अर्जन तथा इन अर्जित वस्तुओं की वृद्धि ही अर्थ है।

अर्थोपार्जन के उपाय- संसार में धनोपार्जन के लिए व्यक्ति किसी भी उपाय का आश्रय ले सकता है। कुछ व्यक्ति नीच कर्मों में लगकर, कुछ लोगों को ठगकर, कुछ भ्रष्टाचार से कुछ शिष्टों के द्वारा निन्दित मद्य, मांसादि के विक्रय से। किन्तु वेदों में ऐसे धन से दूर रहने का ही वर्णन प्राप्त होता है-

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रासुतः पत । अयस्मयेनाकेन द्विषते त्वा सजामसि ।^८

अतः वेदों में अर्थोपार्जन के पांच उपायों का वर्णन प्राप्त होता है-

१- भूमिः २- श्रम ३- साधन-सामग्री ४- व्यवस्था ५- साहस ।

पृथिवी के वीरपुत्रों के द्वारा कृषि करनी चाहिए। ऋग्वेद में आता है कि हल के द्वारा जोती गई भूमि प्राणियों को अन्न प्रदान करती है।^९ यहाँ तक कि भूमि से कैसे करके हम अधिक लाभ प्राप्त करें? इसका भी उल्लेख हमें वेदों में प्राप्त होता है-

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।

गिरा च सृष्टिः सभरा असन्नोनेदीय इत्सृण्यः पक्कमेयात् ।।^{१०}

ऋषि दयानन्द ने भी कृषि को आर्थिक उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन समझकर कृषि पर बल दिया। कृषि योग्य भूमि के समुचित उपयोग को समुचित महत्त्व देते हुए उन्होंने लिखा कि जो जन भूमि के गुणों को जानकर उसका उपयोग करते हैं वे अत्यन्त बल को पाकर सब पृथिवी का राज्य कर सकते हैं।^{११}

इसलिए वेदों ने मनुष्यों को स्पष्ट आदेश दिया कि कृषि करो-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व ।^{१२}

भूमि की प्राप्ति के सम्बन्ध में अथर्ववेद का भूमिसूक्त अत्यन्त ही शालीनता पूर्वक उपदेश करता है। वह सबका आधार भूमि को बतलाता है, सभी वस्तुएं निःशुल्क रूप से भूमि से ही हो सकती हैं। अथर्ववेद कहता है कि कृषक के दोनों बैल चार पैरों से अलक्ष्मी को रौंदकर भूमि को खोदते हुए लक्ष्मी को उत्पन्न करें एवं दरिद्रता को दूर करें।^{१३}

८ अथर्ववेद ७.११५.१

९ कृषचित् फाल आशितं करोति-- । ऋग्वेद १०.११७.७

१० ऋग्वेद १०.१०१.३

११ ऋग्वेद १.१६०.५ का ऋषिकृतभाष्य

१२ ऋग्वेद १०.३४.१३

१३ अथर्ववेद ४.११.१०

पशुपालन- जैसे कृषि से धनार्जन होता है ऐसे ही पशुपालन से भी धनार्जन किया जाता है। आज भी भारत में बहुत लोग पशुपालन से ही आजीविका का निर्वहन करते हैं। इसलिए आम्नाय में सभी प्राणियों की हिंसा का निषेध किया गया है।^{१४}

वेदों में 'हमारा गोष्ठ पशुओं से समृद्ध रहे और उनसे समृद्धि प्राप्त हो' का अनेकशः वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद कहता है-

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन्।^{१५}

ऋषि दयानन्द ने पशु धन को बहुत महत्त्व दिया। वे कहते हैं कि 'जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे, तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द से मनुष्यादि प्राणी बसते थे क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते हैं।^{१६}

राष्ट्र की समृद्धि की प्रार्थना में तो स्पष्टतः दुहारू गौओं, भार, शकट आदि को खींचने वाले बैलों तथा तीव्रगामी घोड़ों की व्यवस्था होना अनिवार्य माना गया है।^{१७}

यजुर्वेद के २४ वें अध्याय में विविधप्रकार के स्थलचर, नभचर तथा जलचर प्राणियों का वर्णन उनके गुण-दोषों की जानकारी से यथायोग्य प्रयोजन सिद्ध करने के लिए कहा गया है। वेद में एक स्थल पर तो 'उर्णासूत्रेषु कवयो वयन्ति' इत्यादि द्वारा भेड़, बकरी आदि पाल्य पशुओं से ऊन प्राप्तकर वस्त्र बनाने का भी वर्णन प्राप्त होता है।

वाणिज्य- कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त अर्थोपार्जन का साधन वाणिज्य भी है। भगवान वेद लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए वाणिज्य व्यवहार का उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'जो वणिक् वाणिज्य व्यवहार करते हुए देश-देशान्तरों में विचरण करते हैं, वे धन अर्जित कर असंख्य धन के स्वामी होते हैं।^{१८} अन्यत्र भी वाणिज्य का वर्णन प्राप्त होता है, जिससे उसकी अधिकता एवं अल्पता का स्वरूप प्राप्त होता है-

येन धनेन प्रषणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः। तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोये...।^{१९}

शिल्प- वस्त्र, गृह, ताम्रादि धातुओं से विविधप्रकार की वस्तुओं का निर्माण शिल्प कहा जाता है। वेदों एवं ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकविध शिल्पों का वर्णन प्राप्त होता है। जैसे- वसा, तष्टो, भिषक्, कर्मार, अयस्कार, चर्मकार, सूत आदि।

१४ इमं मा हिंसीद्विपादं पशुम्। यजुर्वेद १२.४७-४८

१५ अथर्ववेद २.२६.२

१६ सत्यार्थप्रकाश-दशमसमुल्लास-पृ.-१८५

१७ दोग्ध्री धेनुर्वोदानङ्गानाशुः सप्तिः। यजुर्वेद २२.२२

१८ ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति। ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथाक्रीत्वा धनमाहराणि। अथर्ववेद ३.१५.२

१९ अथर्ववेद ३.१५.५

वस्त्रों में ऊन के द्वारा क्षौम वस्त्र बनाने का वर्णन भी प्राप्त होता है।^{२०} वैदिक साहित्य में गृह के लिए दम, दुर्या, परस्त्या, हर्य, ओकस् तथा दुरोग् आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में लौहनिर्मित नगरों का उल्लेख है।^{२१} ऋग्वेद में प्रस्तर खण्डों से निर्मित सुदृढ दुर्ग का भी वर्णन है।^{२२} इन सभी निर्माण के लिए शिल्पियों की आवश्यकता होती है, अतः भवन निर्माण करके अनेक जन अर्थोपार्जन करते थे। वैदिक साहित्य में चर्म उद्योग भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद में रथ के आस्तरण, आवरण तथा घोड़े के लगाम बनाने के लिए चमड़े के उपयोग का उल्लेख है।^{२३} अथर्ववेद में चर्म को तैयार करने की विधि इतनी विकसित थी कि उससे वस्त्र बनाये जाते थे। ब्रह्मचारी के द्वारा काले मृगचर्म को धारण करने का वर्णन मिलता है।^{२४}

इसके अतिरिक्त रजत, रूम, निष्क, आभूषणों, अयस्, श्याम अयस्, स्वर्ण, सीसा, त्रपु तथा अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अर्थोपार्जन में शिल्प कला अत्यन्त उपयोगी थी।

अर्थ का सदुपयोग- संस्कृत शास्त्रकारों ने अर्थ की तीन गतियों का वर्णन किया है 'दान, भोग और नाश'-
दानं भोगो नाशः तिस्रः गतयो भवन्ति वित्तस्य । यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।

जिसमें अर्थ की सर्वप्रथम गति दान है। हमारे वेदों में जितना वर्णन धनोपार्जन का है उससे भी अधिक 'दान' की महिमा कही गई है। यजुर्वेद का ईशावास्योपनिषद् कहता है कि तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।^{२५} ऋग्वेद में दान देने वाला अमृतत्व को प्राप्त करनेवाला बतलाया गया है।^{२६}

अथर्ववेद में भी जहां एक ओर धनोपार्जन का उपदेश है वहीं साथ में उससे अधिक दान की महिमा का गुणगान है। सौ हाथों से कमाने के साथ ही सहस्र हाथों से दान देने का वर्णन भी प्राप्त होता है।^{२७}

इतना ही नहीं अपितु जो केवल कमाकर अकेले उपभोग करता है, वेदों में उसे भी पापी बताया गया है।^{२८} ऋग्वेद में ६८ सूक्त दानसूक्तों के रूप में वर्णित है, इसी से दान की महिमा का अनुमान वैदिक काल में लगाया जा सकता है।

२० सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति । यजुर्वेद १९.८०

२१ ऋग्वेद ७.१५.१४

२२ ऋग्वेद ४.३०.२०

२३ ऋग्वेद ६.४७.२६

२४ अथर्ववेद १.१.५

२५ यजुर्वेद ४०.१

२६ दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते... । ऋग्वेद १.२५.६

२७ शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर... । अथर्ववेद ३.२४.५

२८ 'केवलाघो भवति केवलादी'। ऋग्वेद १०.११७.६

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रासङ्गिकता- उपरोक्त अर्थव्यवस्था का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करने के पश्चात् आधुनिक युग में उसकी प्रासङ्गिकता कैसे है, इसका निरूपण अत्यधिक अनिवार्य है। क्योंकि आज सर्वत्र धन की प्राप्ति के प्रयास में धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य एवं कर्तव्य-अकर्तव्य की भावना का विनाश हो गया है। सर्वत्र ही कथञ्चित् प्रयास से कैसे धन का अर्जन हो सकता है, इसी में अहर्निश समय व्यतीत हो रहा है। धन का असीम लालच व्यक्ति को चोर, लुटेरा एवं दूसरे धन का अपहरण करने के लिए मानव नृशंस एवं पैशाचिक वृत्ति को भी स्वीकार कर रहा है। अर्थोपास्यता के कारण सर्वत्र भ्रष्टाचार, आतङ्कवाद, अराजकता के गर्त में फंसकर संसार में त्राहि-त्राहि मची हुई है।

अर्थ के इस दुष्प्रभाव के कारण लोगों ने पूंजीवाद व्यवस्था को उखाड़ फेंका एवं डूबते हुए को तिनके का सहारा मानकर कार्लमार्क्स के साम्यवाद का सहारा लिया। जब कार्लमार्क्स ने साम्यवाद का नारा दिया तो लोगों में हलचल मच गई, उन्हें अन्धेरे में दीपक का सहारा मिला और सभी साम्यवाद रूपी दीपक के अनुयायी बन गये। किन्तु दीपक की लौ कब तक जलनी थी लोगों को वह भी पूर्णसन्तुष्टि नहीं दे सका। जहां साम्यवादी व्यवस्था पूंजीवादी से अच्छी थी किन्तु वह विश्वभर में प्रेम, शान्ति और तृप्ति का विस्तार करने में असफल रही। फलतः आज लोग उससे भी विमुख हो रहे हैं। पुनः ऐसी कौन सी व्यवस्था है जो आसंसार प्रेम व शान्ति का वातावरण बनाए, जो निर्दोष हो एवं अभ्युदयकारी हो। इसके समाधान के रूप में केवल और केवल वैदिकी अर्थव्यवस्था ही है। उसी वैदिक-अर्थव्यवस्था के कारणस्वरूप बलि जैसे प्रतापी राजा सम्पूर्ण वसुधा को दान कर देते हैं। राम-लक्ष्मण जैसे भाई राज्य को तुच्छ मानकर त्याग देते हैं। इस व्यवस्था की यही प्रमुख विशेषता है जिसे त्याग कहते हैं। यह पृथिवी सम्पूर्ण संसार का भरण-पोषण करने में समर्थ है किन्तु एक व्यक्ति के लालच को नहीं। इसलिए यदि विश्वमानव अपनी इच्छाओं को सीमित कर ले तो सम्पूर्ण विश्व सुखमय हो सकता है।

प्राचीन अर्थव्यवस्था में जहां कृषि, वाणिज्य, पशु, शिल्पकला के द्वारा धनोपार्जन का पथ प्रदर्शित किया गया है वहीं मुक्त कण्ठ से दान की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक धनान्नदान सूक्त है, जिसके कतिपय मन्त्र सडिण्डिम दान की प्रशंसा करते हैं।^{२९}

वेदों में राजा का एक कर्तव्य यह भी बतलाया गया है कि 'जब समाज में विषमता आ जाए तो धन को धनवान लोगों से लेकर प्रजाकल्याण में व्यय करना चाहिए।'^{३०}

संसार को सुखपूर्वक चलाने के लिए प्रेमतत्त्व की महती आवश्यकता होती है। भगवती श्रुति सम्पूर्ण विश्व के मानव को प्रेम सम्बन्ध में जुड़ने का उपदेश करती है-

२९ उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति....

य आध्राय चकमानाय पिल्वो(भवान्सन रफितायोपजग्मुषे । स्थिर मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्दितरं न विन्दते ।। ऋग्वेद १०.११७.२

३० ऋग्वेद ५.४२.९

अन्योऽन्यमभिहर्षत वत्सं जातमिवाध्या^{३१}

यदि प्रेमतत्त्व अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाए तो वेदों की वाणी में 'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः' सर्वत्र गूंजने लगे और सारा संसार लोभवृत्ति का परित्याग कर दे। आज धन कमाने के लिए किसी भी अनुचित वृत्ति का उपयोग किया जा रहा है, अनुचित साधन को अपनाया जा रहा है किन्तु वेद मन्त्र इसप्रकार के उपार्जित वृत्ति को, अनुचित रूप से कमाए धन को हेय मानता है और प्रार्थना करता है 'इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि देहि'^{३२}

इसलिए हमारे जीवन को प्राचीन काल में चार आश्रमों में विभक्त किया गया था। जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम में केवल विद्यार्जन ही एकमात्र लक्ष्य होता था। वानप्रस्थाश्रम में भी सभी भोग के साधनों का परित्याग करने का उपदेश है एवं संन्यासी को तो वेद को छोड़कर सभी कुछ छोड़ने का आदेश है। इसप्रकार मनुष्य जीवन के सौ वर्षों में २५ वर्ष ही धन के अर्जन एवं भोग का समय है। तो क्यों हि कोई अमर्यादित ढंग से अर्थ का अर्जन करता एवं किसके लिए सुरक्षित रखने के लिए उसका सन्निवेश करता है।

अतः जहां भोगवादी संसार में आज अर्थलिप्सु लोग अन्य तीन पुरुषार्थों को छोड़कर एकमात्र अर्थ के लिए ही प्रयासरत हैं, उस राष्ट्र की प्रगति अवश्य ही असम्भव है। इसलिए आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था को छोड़कर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के उद्घोष को पुनः जीवन्त बनाने के लिए वैदिक अर्थव्यवस्था ही एकमात्र साधन है। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

३१ अथर्ववेद ३.३०.१

३२ ऋग्वेद २.२१.६

The *Katha Upanishad* highlights the moral and psychological foundations necessary for meditation, such as discipline, humility, clarity of discrimination (*viveka*), and inner purity. The chariot allegory illustrates the need for control over senses, mind, and intellect to direct the Self toward liberation. By developing these virtues, seekers create the necessary inner environment to experience higher states of consciousness.

Overcoming Obstacles on the Spiritual Path:

Acknowledging the challenges of spiritual practice, the Upanishad provides guidance for overcoming distractions and doubts. Self-discipline (*sādhana*), discrimination (*viveka*), and surrender to the divine will (*Ishvara-pranidhana*) are advised as means to surmount obstacles. This practical framework assures seekers that perseverance can dispel ignorance and strengthen commitment to the path.

Integration of Knowledge and Practice:

A central teaching of the Upanishad is the integration of knowledge (*jnana*) and realization (*vijnana*). Mere intellectual understanding of spiritual truths is insufficient; they must culminate in personal experience through meditation, contemplation, and inner absorption (*samadhi*). The text stresses that wisdom without practice remains sterile, while practice without wisdom is blind. By harmonizing intellectual clarity with direct insight, seekers achieve holistic realization.

The *Katha Upanishad* delineates a structured path to Self-realization, encompassing renunciation, devotion to a Guru, cultivation of virtues, overcoming obstacles, and uniting knowledge with practice. Through dedicated inner work and unwavering commitment, seekers can transcend ignorance and awaken to their true nature—the eternal *Atman*, one with Brahman.

VII. THE GOAL OF YOGIC MEDITATION: MOKSHA

In the *Katha Upanishad*, the ultimate goal of yogic meditation is elucidated as *Moksha*—liberation from the cycle of birth and death (*samsara*) and the attainment of eternal Self-realization. This profound spiritual concept represents the highest aspiration of the human soul: to transcend the limitations of individuality, ignorance, and suffering, and to merge with the infinite reality (*Brahman*).

Liberation from Samsara:

The *Katha Upanishad* describes *samsara* as the endless cycle of birth, death, and rebirth, propelled by *karma* (cause-effect action). Bound to desire and ignorance, beings remain trapped in this cycle. Yogic meditation offers a means to break free from these bonds by realizing the true nature of the Self (*Atman*)—which is beyond body and mind. The Upanishad asserts that only through Self-knowledge and discipline can one transcend mortality and attain immortality (*amritatva*). Meditation thus dissolves accumulated impressions (*samskaras*), liberating the soul from the wheel of birth and death.

Attainment of Eternal Bliss (*Ananda*):

the complexities of the 21st century. As humanity navigates rapid change and existential challenges, the timeless wisdom of yogic meditation continues to serve as a guiding light for inner transformation and ultimate freedom.

IX. CONCLUSION

The Katha Upanishad stands as a timeless testament to the transformative power of yogic meditation in the quest for Self-realization and liberation. Through its profound teachings, philosophical inquiries, and practical insights, this ancient text illuminates the path to inner transformation, offering guidance and inspiration to seekers of truth in every age and corner of the world.

In our exploration of yogic meditation in the Katha Upanishad, we have delved into the philosophical foundations, practical techniques, and ultimate goal of spiritual realization. We have seen how the Upanishad elucidates the nature of the Self (Atman), the significance of meditation in transcending the limitations of the conditioned mind, and the ultimate goal of liberation (Moksha) from the cycle of birth and death.

Moreover, we have explored the contemporary relevance of yogic meditation, examining its practical implications in modern life, its alignment with other contemplative traditions, and its potential to foster inner peace, well-being, and spiritual growth amidst the complexities of the 21st century.

As we conclude our exploration, may we carry with us the timeless wisdom of the Katha Upanishad and the teachings of yogic meditation into our lives. May we cultivate the virtues of humility, perseverance, and self-inquiry as we traverse the path to Self-realization. And may we honor the rich tapestry of spiritual traditions that inspire us to awaken to the truth of our own divine nature and realize the boundless joy and freedom that await us on the journey of inner transformation.

The Role of Indigenous Knowledge Systems in Strengthening India's Aspirational Foreign Policy

Dr. Abhya Raj Singh

Assistant Professor, Department of Defence & Strategic Studies, D.A-V. College, Kanpur

Dr. Abhishek Kumar

Assistant Professor, Deptt. of Defence, Strategic & Geo-Political Studies, HNBSGU, SRT Campus, Tehri Garhwal, Uttarakhand

Abstract:

India's aspirational foreign policy seeks to establish the country as a global leader by leveraging its historical strengths, cultural heritage, and strategic innovations. Indigenous Knowledge Systems (IKS), rooted in India's ancient traditions, offer valuable insights that can enhance diplomatic engagements, economic strategies, security frameworks, and environmental policies. This study explores the role of IKS in shaping India's foreign policy by examining its relevance in soft power diplomacy, conflict resolution, environmental sustainability, economic trade policies, and security strategies.

India has successfully utilized IKS to enhance its soft power through cultural diplomacy, as seen in the global promotion of Yoga, Ayurveda, and Sanskrit studies. Traditional knowledge also plays a crucial role in India's peacebuilding efforts, drawing from ancient diplomatic principles found in Kautilya's *Arthashastra* and Buddhist teachings. Additionally, IKS contributes to India's environmental diplomacy, particularly in sustainable resource management and climate negotiations. In trade and economic diplomacy, India's advocacy for protecting traditional knowledge from biopiracy and unfair global trade practices underscores the significance of indigenous wisdom in international policymaking. Moreover, India's maritime and border security strategies benefit from traditional surveillance and community-based intelligence practices.

Despite these advantages, integrating IKS into contemporary foreign policy faces challenges, including institutional reluctance, lack of global recognition, and the dominance of Western-centric diplomatic models. This study suggests policy frameworks to incorporate IKS into India's foreign policy strategy, ensuring that indigenous knowledge contributes to India's global aspirations. By systematically integrating IKS, India can establish a self-reliant, historically informed, and globally influential foreign policy model.

Keywords:

Indigenous Knowledge Systems, India's Foreign Policy, Soft Power Diplomacy, Cultural Heritage, Strategic Diplomacy, Economic Trade Policy, Security Strategy.

Introduction:

India's foreign policy in the 21st century has undergone a significant transformation, aligning with its aspirations to emerge as a global power. This aspirational foreign policy is driven by a vision of strategic autonomy, economic leadership, and cultural influence, positioning India as a key player in global governance. The country seeks to balance its historical non-alignment principles with

often dismissed as idealistic rather than recognized as a viable conflict resolution model. This intellectual bias discourages policymakers from incorporating IKS-based approaches into diplomatic decision-making, limiting India's ability to project its indigenous strategic thought as a global alternative to Western diplomatic paradigms.

Need for Structured Academic Research and Policy Advocacy: Another significant challenge is the lack of academic research and policy advocacy focused on the strategic relevance of IKS in contemporary international affairs. While there has been increasing interest in cultural diplomacy and soft power, comprehensive studies on how India's indigenous traditions can inform economic diplomacy, environmental governance, or security strategies remain limited.

To mainstream IKS in foreign policy, it is essential to establish dedicated research programs and institutional collaborations between universities, think tanks, and government bodies. India must invest in policy-oriented research that bridges the gap between historical knowledge and modern diplomatic practice. Additionally, international advocacy is necessary to challenge the intellectual hegemony of Western diplomatic frameworks and promote India's indigenous diplomatic traditions as viable alternatives in global discourse.

Policy Recommendations and Future Directions:

To effectively integrate Indigenous Knowledge Systems (IKS) into India's foreign policy and enhance its global influence, the following strategies should be adopted:

- **Integration of IKS into Foreign Policy Frameworks** - Establish dedicated institutional mechanisms to incorporate Indigenous Knowledge Systems (IKS) into India's diplomatic strategies.
- **Enhancing Global Promotion of Indian IKS** - Strengthen cultural diplomacy by expanding initiatives such as Yoga diplomacy, Ayurveda promotion, and traditional knowledge exchanges.
- **Incorporating IKS in International Negotiations** - Utilize traditional ecological wisdom in climate diplomacy, water sharing agreements, and sustainable development dialogues.
- **Strengthening Research and Documentation** - Establish academic research centers focused on IKS and its role in international relations, ensuring systematic study and policy recommendations.
- **Leveraging IKS in Economic and Trade Diplomacy** - Advocate for global protection of traditional knowledge under WTO and WIPO frameworks to prevent biopiracy and unfair trade practices.
- **IKS in Peacebuilding and Conflict Resolution** - Promote indigenous diplomatic traditions, including non-violence (Ahimsa) and ethical statecraft, in global peace and mediation efforts.
- **Community-Based Security and Border Management** - Integrate traditional surveillance, tribal intelligence networks, and indigenous maritime knowledge into border security policies.
- **Developing an IKS-Based Diplomatic Training Curriculum** - Train Indian diplomats in indigenous strategic thought, cultural diplomacy, and ancient negotiation techniques.

- **Enhancing India's Role in Global Governance Using IKS** – Advocate for indigenous knowledge in UN forums, BRICS, G20, and other multilateral platforms.
- **Public-Private Collaboration for IKS Promotion** – Encourage partnerships between the government, academia, and industries to commercialize and globally promote Indian traditional knowledge.

Conclusion:

Indigenous Knowledge Systems (IKS) hold immense potential in strengthening India's aspirational foreign policy by offering unique diplomatic, economic, and security advantages. Rooted in India's civilizational wisdom, IKS can enhance the country's global engagement by integrating traditional knowledge into modern diplomatic frameworks. India's soft power diplomacy, leveraging assets such as Yoga, Ayurveda, Sanskrit, and spiritual traditions, has already established the country as a global cultural leader. Initiatives like the International Day of Yoga and AYUSH diplomacy demonstrate how traditional knowledge can be a tool for fostering international goodwill and cooperation.

Beyond soft power, IKS also plays a crucial role in conflict resolution, peace diplomacy, and strategic statecraft. The principles outlined in Kautilya's Arthashastra, Buddhist teachings, and Gandhian non-violence (Ahimsa) remain relevant in resolving global conflicts and strengthening multilateral cooperation. Similarly, indigenous ecological wisdom has influenced India's environmental diplomacy, supporting its leadership in global sustainability initiatives like the International Solar Alliance (ISA) and COP negotiations. In economic and trade diplomacy, protecting indigenous knowledge from biopiracy and ensuring fair trade practices has been a priority, exemplified by India's advocacy for the Traditional Knowledge Digital Library (TKDL).

Furthermore, IKS contributes to maritime and border security strategies, where traditional surveillance, navigation techniques, and community-based intelligence play a vital role in securing India's frontiers. However, challenges such as institutional reluctance, Western-centric policy models, and the lack of structured research on IKS hinder its full integration into foreign policy. Going forward, greater investment in academic research, policy advocacy, and institutional frameworks is necessary to mainstream IKS into India's global strategy. By embracing its indigenous wisdom and aligning it with modern strategic needs, India can craft a more resilient, sustainable, and influential foreign policy, reinforcing its position as a global leader while staying rooted in its historical strengths.

deserts follow.” (Hornbill) That’s why, the most significant and talked-about topic in the modern era is ecological imbalance. In actuality, the recent calamitous manifestation of nature that occurred in Kedarnath in 2013 and Himachal Pradesh in 2023 affected all of us. Both of these natural calamities have left lasting effects on us that make us reflect on our lifestyle and lead us to believe that human need and greed have thrown off some of the ecological equilibrium. Because of this, it is imperative that we should reevaluate and alter our way of life. With this regard the study of our Indian knowledge texts can help us a lot by opening our eyes to our duty and obligation as dutiful citizens to the environment and to nature, thereby ensuring a happy and peaceful existence. In fact, the various Indian Knowledge Texts provide a clear explanation of the significance of preserving the environment and the idea that nature will become hostile if anything is done to disturb this balance and this is well proved in the calamitous manifestation of Kedarnath and Himachal Pradesh. The following shloka is quite apt to quote in this regard:

पर्यावरणनाशेन नश्यन्ति सर्वजन्तवः । पवनः दुष्टतां याति प्रकृतिर्विकृतायते । ।

“Paryavarnashen nashyanti sarvajantavah.

Pavanah dushtata yaati prakrtirvikrtayate.”

(Due to pollution (destruction) of our environment, all the beings are destroyed, the winds get vicious and the nature becomes hostile.)

The Sanskrit term Paryavarnam, meaning "avarana" (covering), refers to the five elements of nature: Prithvi (Earth), Vayu (Air), Agni (fire), Aakash (Sky), and Jal (Water). These elements are collectively known as panchmahabhuta, - "Bhumih aapo analo vaayuh kham." भूमिरापोऽनलो वायुः खं । (Bhagwad Gita, 7.4). The Vedic Sahitya stresses the importance of preserving these panchmahabhutas for a happy and healthy existence besides, providing comprehensive information regarding their religious, social, psychological, and physical values. In a related vein, Hindu philosophy, as it views human relations with nature and how humans should interact with it, holds these five elements of nature to be sacred and hence deserving of devotion. Hindus have always had a strong and natural bond with the natural world. From the cradle to the cremation pyre, we have all of these elements—air, water, sun, earth, and fire— as an inseparable part of our lives. Wood and fire are ubiquitous, found in everything from household hearths to religious rituals. Hindu weddings are held in front of a sacred fire, which is regarded as an everlasting witness; the deceased are relegated to the fire after death. The ashes of the burnt body are submerged in sacred rivers, which are also used to bathe the deceased prior to cremation. These rivers nourish and irrigate paddy fields also. The interconnectivity between natural objects and human life can be well understood through the words: If there is no tree, there will be no water, If there is no water, there will be no air, If there is no breeze/air, there will be no body and no body, means no life i.e. nothing. Thus, the relationship between a living creature and its environment is essentially everlasting because the Earth and its surroundings give everything necessary for the life to exist. The Vedic Sahitya includes Vedas, Brahmanas, Upanishads, Samhitas and Upavedas, and all these are full of evidences about the ecological wisdom. In an era when environmental preservation and conservation were unimportant, our Vedic scriptures are filled with the content that emphasizes the preservation of the environment and ecological balance by underlining the enduring tie between nature and people. A few examples of ecological wisdom of Vedic Sahitya, can be quoted, the Atharva Veda discusses the value of pure water, which has the

ability to prevent and treat a wide range of ailments. The Agni Purana affirmed death sentence to the one who pollutes the pond water. The Padma Purana stressed the need to preserve forests and refrain from felling trees, because it elevated trees to godlike status. These are just a few examples showing that the Vedic Sahitya has ample content like this emphasizing the preservation of the environment and ecological balance.

The concept of Vasudhaiv Kutumbkum:

Analyzing or studying the Vedic Sahitya in the context of ecological wisdom can provide new insights on traditional practices and beliefs that might inform contemporary approaches to environmental preservation and sustainability. The basic concepts of Vedas like Vasudhaiv Kutumbkum and Ahimsa Parmo Dharmah, promote non-violence and also to live in harmony with nature. It is predicated on the notions that all living things, including plants and animals, have a single creator and that no one has the right to cause damage to any of them. In this regard, the first example of Vedic prayer can be used to illustrate the concept of Vasudhaiv Kutumbkum. In this prayer, we pray not just for the speaker but also for everyone's well-being, health, and happiness:

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः । ।

“Sarve bhavantu sukhinah sarve santu niraamayaah.

Sarve bhadrani pashyantu ma kashchidduhkhahabhavet.

Om shaantih shaantih shaantih.”

(May everyone be happy; may everyone be healthy.)

Be a witness to all good events and no one should ever have to suffer sorrow.)

Similarly, the recitation of the Shanti mantra also expresses the belief in the importance of cooperation and interdependence among all natural powers and regions. The mantra talks of being at peace with the universe, the sky, the mid-region, the ground, the waters, the plants, the trees, the all-gods, Brahman, the universe, and peace:

“ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः, सर्वं शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥” (Yajurveda 36, 17 pp-509)

(Let there be peace in the space, peace in the sky, peace on the earth, calmness in waters, peace of trees, peace of plants, grace in all Gods, bliss in the Brahman, peace in everything, peace and peace, peace be with every one of us.)

Environment is sacrosanct:

One of the panchmahabhutas is air or environment that is sacrosanct and needs to be preserved and purified by reducing pollutants to live in peace and health. Animals and people alike benefit from a clean and unpolluted environment. If the atmosphere stays quiet, pure, and uncontaminated, mankind on this planet can thrive for hundreds of years. However, we have really broken this, and as a result, we are dealing with several environmental problems that have led to health crises. Additionally, the Atharvaveda, emphasizes in the following words how vital it is to maintain atmospheric purity in order to prevent pollution and ensure survival:

“सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः । यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीविनाय कम् ॥” (Atharvaveda/8/2/25. Pp-7)

“Sarvo Vai Tatra Jivati Gourasvah Purusah Pasuh.

Yatredam Brahma Kriyate Paridhir Jivantaya kam.”

(Everyone, whether a human being or an animal, lives safely, where the purity of atmosphere (Brahman) is maintained all around for the purpose of life.)

The consideration of the Hindu ritual yajna, as a Vedic tradition that is described in the Vedic literature such as the Yajurveda and the Brahmanas, is quite apt with regard to atmosphere purification as the samagri used in the yajna includes a lot of medicinal herbs. The custom has evolved over time from making symbolic offerings in front of the sacred fire (Agni) to offering libations and oblations into it. The ingredients presented as oblations for the yajna include grains, cakes, soma, ghee, milk and herbs in the form of samagri. The effects of guggule in samagri are emphasized in Kand 19, Sukt 38, and Mantra 1 with the title of Yakshamnasham of Atharavaeda in the following way:

“न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्रुते ।

यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्रुते ॥” (Atharavaeda. Yakshamnasham 19. 38.1)

(The one who is penetrated by the fragrant of the healing guggulu cannot be obstructed by the wasting diseases or affected by the curses.)

The goal of yajna, as we all know, is to purify the atmosphere and air. The yajna samagri, which is made up of ghee and a number of other herbs, purifies the air. The same is highlighted in a blog by Akhlesh Verma, entitled “Environment Purification by “Yajna”, as it explains the importance and role of yajna as an environmental purifier in the following words:

“the incidence of physical ailments, sickness and diseases are reduced in the houses where the yajna is regularly performed as it creates a pure, nutritive and medicinal atmosphere. It renews the brain cells, revitalizes the skin, purifies blood and prevents growth of pathogenic organisms. Yajna is basically a healing process. Heal the atmosphere and the healed atmosphere will heal you- is the modus operandi.”

Akhlesh Verma has also quoted Dr. Halfkine in his blog saying that he has mentioned that:

“Mixing ghee and sugar and burning them creates smoke which kills the germs of certain disease and secretion takes place from some glands related to the wind pipe, which fill our mind with pleasure. Sugar present in the yajna smoke has great power to kill the germs of Tuberculosis, Measles, smallpox and cow-pox.”

He further goes on saying that heat and sound are the two fundamental energy systems in the physical universe. When a yajna is performed, the sound of the mantras and the heat from fire of yajna are combined to produce the intended spiritual and psychological effects. To maintain the equilibrium of the ecosystem, ecology is crucial. The Mantras 6 and 7 of Mandal One and Sukt 90 of Rig Veda mention the blisses of the environment and thus highlights the protection of environment as follows:

“मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ (Rigveda,1/90/6. pp-447)

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्वार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥” (Rigveda,1/90/7. pp-447)

“madhu vātā ṛtāyate madhu kṣaranti sindhavaḥ । mādhvīr naḥ santvoṣadhīḥ ॥
madhu naktam utosaḥ madhumat pārthivaṃ rajaḥ । madhu dyaur astu naḥ pitā ॥”

(Environment provides bliss to people leading their life perfectly. Rivers bliss us with sacred water and provide us health, night, morning, vegetation. Sun bliss us with peaceful life. Our cows provide us milk).

All the religious traditions in Hindu philosophy emphasize the significance of the earth's environment and the urgency of conserving it. The following teaching from our Yajur Veda is quite relevant in modern life too:

“द्याम्मा लेखीरन्तरिक्षम्मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव । अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय ।
अतस्त्वन्देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ॥” (Yajur Veda 5, 43. pp-45)

"Do not disturb the sky and do not pollute the atmosphere. (Yajur Veda 5, 43. pp-45)

Trees as a part of environment:

Trees, as it is obvious, serve as a medium for purifying the environment and lowering air pollution. Nowadays, we see a lot of Tree Plantation Drives with slogans like “Save trees, Save the environment”, “Plant more and more trees”, “Say no to tree cutting, say yes to planting”, “Trees breathe, we breathe”, and so on, all of which demonstrate that there is an urgent need for environmental purification and that trees are the only source to solve this problem. The tree plantation is always promoted in Vedic texts too. Rig Veda has the same description:

“मा काकम्बीरमुद्गहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनाशः” । (Rig Veda 6.48.17. pp- 570)

“mā kākambīram ud vṛho vanaspatim aśatīr vi hi nīnaśah”

(Do not cut trees because they remove pollution.)

In this regard, an instance from Matsya Purana chapter 154 is quite illuminating. The goddess Parvati planted an Asoka sapling and cared for it. She watered it, and it flourished well. The holy creatures and sages arrived and informed her:

“O [Goddess]almost everyone wants children. When people see their children and grandchildren, they feel they have been successful. What do you achieve by creating and rearing trees like sons? Parvati replied: “One son is like ten reservoirs and one tree is equal to ten sons (dasa putra samo drama). This is my standard and I will protect the universe to safeguard it” (Matsya Puranam. 154, 506–513, pp-572.)

Along with, the recommendation and celebration of tree planting, cutting of the trees is also has been condemned and criticized to the extremity of sin in almost all the dharma shastras. The following verse Manu –Smritih describes the penalty of the recitation of hundred verses at the cutting of trees:

“फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमुच्छातम् ।

गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ (Manusmritih. Part-II, 11. 142.)

“phaladānām tu vṛkṣāṇām chedane japyamṛśatam ।

gulmavallīlatānām ca puṣpitānām ca vīrudhām ॥ 11.142 ॥”

(When one cuts fruit-bearing trees, shrubs, creepers, branches of trees or flowering plants, he should recite one hundred verses.)

Kautilya's Arthashastra (c. fourth century B.C.E.) also mandates increasing degrees of punishment for individuals who remove trees, groves, and forests:

“For cutting off the tender sprouts off fruit trees, flower trees or shady trees in the parks near a city, a fine of panas shall be imposed; for cutting off the minor branches of the same trees, 12

panas, and for cutting off the big branches, 24 panas shall be levied. Cutting off the trunks of the same shall be punished [with a fine between 48-96 panas]; and felling of the same shall be punished with [a fine between 200-500 panas]. For similar offences committed in connection with the trees which mark boundaries, or which are worshipped double the above fines shall be levied.” (Quoted by Narayan)

Water is sacred:

The next panchmahabhuta to be discussed is water and the Vedic Sahitya has a wealth of information emphasizing the value and holiness of water in life, as well as the need to protect water supplies. In fact, water has always been regarded with extreme veneration and respect in Vedic literature. In Chandogya Upanishad, it is said, “Water has generated plants which in turn generate food.” (Devdiscourse) Water, as a part of the human environment, has been identified as occurring in five different forms: rivers (Samudrarthas), lakes (Svayamjah), wells and canals (Khanitrimah), rainwater (Divya), and natural springs (Srevanti). An article entitled, “Person who pollutes water of ponds, wells or lakes goes to hell: NGT quotes Vedas, Puaranas”, highlights the sanctity and value of water in the following words:

“It is said that all creatures are borne from water, and water is a producer of all that is stationary or all that moves. Saints, Sages, and Seers were aware that human habitation is mostly near rivers and waters and their daily activities would likely pollute water and harm nature's balance.” (Devdiscourse)

This explains, why there are several quotations from ancient writings that forbid engaging in any activity that could lead to water pollution, even going so far as to label such actions as sinful. The following passage, found in Manu Smriti's chapter four, verse 56, demonstrates the same viewpoint:

“नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।

अमेध्यलिप्तमन्यद् वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥” (Manusmriti, VOL.-I ४.५६, pp-३५२)

“nāpsu mūtram puriṣam vā ṣṭhivanam vā samutsṛjet ।

amedhyaliptamanyad vā lohitaṁ vā viṣāṇi vā” ॥ Manusmriti, 4.56 ॥

(Impure objects like urine, faeces, spit; or anything contaminated by unclean things, or blood or poisons should not be cast into water.)

The same caution statement is found in Padam Puran too; “The person who pollutes water of ponds, wells or lakes goes to hell”. (Devdiscourse) Nowadays, no one is paying heed to all of these teachings, and people are contaminating the holy water to such a degree that initiatives like the Namami Gange Yojna have shown to be necessary for cleansing the water of the revered Ganga River.

Parental reverence to the Earth and sky:

Aside from such pious and sacred descriptions of the panchmahabhutas, the Earth and the Sky are regarded as mother and father, respectively, in Vedic sahitya, and this parental status naturally promotes and develops the associated feelings of obligations, respect, and dutiful concern for them or nature. The, ‘Prithvi Sukta’ of Atharaveda in the Kand 12, Sukt 1 and Mantra 12 of Atharaveda describes that “माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः”(Atharaveda 12.1.12)

‘Earth is my mother and I am her son’.

The similar viewpoint is found in Ramayana too:

“जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥” (Ramayana 6.124.17)

“Mother and mother-land are far superior to the heaven.”

One of the most beautiful verses of the Mandal 1, Sukt 164, Mantra 33 of Rig-veda also highlights the same concept:

“द्यौर्यै पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मै माता पृथिवी महीयम् । (Rigveda 1.164.33. pp-838)

(Heaven is my father, brother atmosphere is my navel, and the great earth is my mother.)

Such are the reverend positions given to the Panchmahabhutas in our Vedic Literature and so that we can be grateful, humble and dutiful towards these and can realize significance of the environment and the urgency of conserving it, naturally. These teachings are relevant in present era too because the thinkers in ancient India gave nature a sacred form in order to draw people closer to it. This was done to ensure that people would take nature's directives seriously and take all necessary precautions to preserve and defend it.

To sum up, the violation of the peaceful coexistence among the creatures and the material world was always considered as pradushan in our texts which is caused by disregard for cleanliness standards and breaking the maryada. It is a result of human selfishness and greed. The following description of the polluted shruti from Charak Sahinta is quite apt and relevant to the modern polluted environment and its effects on human beings:

“It seems that all stars, planets, moon, sun, air, agni and nature of directions have been polluted. Seasons also appear to work against the nature, Prithvi in spite of being full of virtues has lost its rasa in all medicinal plants. When such pollution will occur, human beings will suffer from diseases. Due to pollution of seasons, several types of diseases will crop up and they will ruin the country. Therefore, collect the medicinal plants before the beginning of terrible disease and change the nature of Prithvi”. (Adopted from egyankosh Unit 18)

A few rituals as well as the sayings, from our Vedic literature with relation to environment preservation, have been quoted and discussed in this paper and if they are carried out now, they might offer remedies for various environmental issues which are being faced in modern life. Hindu rituals were considered ecologically benign by the Vedas, so the quotation and references can be, undoubtedly, instructive and cautious statements for the modern society to keep in mind to lead a happy, healthy and long life.

References:

1. Acarya Pandit Shreeram Sharma, editor. Atharvaveda Samhita, Vol-I. Brahmvarchas, Shantikunj, HaridwarSamwat 2061. PP-7 (Dhirghaayuprapti Sukta).
2. Gaur, Pandit Kalicharan & Pandit Bastiramji. Matasyapuranam with Commentary. Choukhamba Vidhyabhawan, Varanasi, 2006. Pp- 572.
3. Ishwarchandra Pandit, Translator. Shuklayajurvedasamhita. Parimal Publications, Delhi, 2004. Pp-75 509.
4. Jha Ganganatha, editor. Manusmriti with the Commentary of Medhatithi, Vol-I. Parimal Publications, Delhi 1998. Pp-352.
5. Kaundinyayan Shivaraj Acarya, translator & editor. Manusmritih, Vol.-I. Chaukhamba Vidhyabhawan, Varansi, 2007. Pp-815

Intellectual Property Rights and Digital Rights Management in the Digital Era

Harendra Malik

Library Assistant, Dept. of Pharmaceutical Science.

Gurukul Kangri (Deemed to be) University, Haridwar

Email id:- malikharendra@gmail.com

Abstract

This paper explains the role in managing Intellectual Property right in the Digital Environment library management system and Intellectual property refers to the ownership of intangible goods. This includes ideas, designs, symbols, writings and creations. It also refers to digital media such as audio and video clips that can be downloaded online. Since intellectual property is intangible, if it is stolen, it may be difficult to recover. Say, for example, a person comes up with a great idea for a new invention. Copyright originated in an age where the expression of the intellectual product in physical forms, such as a book. Today, in the information age where digital information can be easily copied at a minimal cost this natural physical limitation to unauthorized copying is removed. It is, therefore, time to reconsider the principle of the copyright model. The purpose of copyright law is to balance the rights of copyright holders and users. Existing copyright law is applicable in the digital age also. As more and more information becomes available in digital format, libraries must ensure that the public can enjoy the same access rights as with printed information. This paper deals with scope and coverage of various concepts connected with IPR, such as intellectual product, patents, copyright, designs, trademarks, computer software, databases, and Internet and cyber laws. Copyright issues associated with digital/electronic information and the protection of the digital right.

Keywords: Intellectual Property right, Digital Environment, Cybersecurity, Software Library Management.

Introduction

It's a whole new world out there. Intellectual property right, personal information and intangible assets are increasingly at risk from serious data breaches, theft and fraud as well as fetching data protection laws. Today's innovators require a partner with a set of skills beyond servicing patent; trademark and legal needs. We guide you securely through the whole innovation process, From idea to developed product, our full range of integrated services guards your technologies and process to maximise the value of your innovation. Data Intellectual Property right is the recent branch of law and with the growth of ICT in recent days, IPR and library study have gained more importance. Knowing the basics of intellectual property rights before discussing the implication of intellectual property rights on library services is felt necessary.

Society values the creative fruits of the human mind, believing that they enrich the fabric of life for all of its members. Thus the system of laws has been developed that confers rights on the creators of these fruits. These rights are collectively known as intellectual property rights, which is commonly abbreviated to 'IPR' (Edenborough, 1997).

TRIPS define intellectual property rights as, the rights given to persons over the creations of their minds. They usually give the creator an exclusive right over the use of his/her creation for a

certain period of time (WTO, 2017) The subject matter of intellectual property is very wide and includes literary and artistic works, films, computer programs, inventions, designs and marks used by traders for their goods or services (Bainbridge, 2015)

Primary understanding of the development of intellectual property rights is very important to have basic knowledge of the evolution of intellectual property at the international level. International conventions on different categories of intellectual property give uniform international standards.

Origin and Development of Intellectual Property

Paris Convention

Paris Convention is an International Convention, which provides the common platform for protection of industrial property in various countries of the world. Prior to the existence of any international convention in the field of industrial property, seeking protection for industrial property in various countries was difficult due to the diversity of their laws.

Paris Convention for the protection of Industrial property was convened in Paris in 1883 and was initially signed by 11 states (WIPO, 2017) Convention was revised at Brussels in 1900, at Washington in 1911, at The Hague in 1925, at London in 1934, at Lisbon in 1958 and at Stockholm in 1967 and was amended in 1979 (WIPO, 2017). The Paris Convention addresses patents, industrial design rights, trademarks, well-known marks, names and unfair competition (Colston, 1999). The Republic of India is a member of the Paris Convention since December 7, 1998. At present total, 177 member countries are part of the Paris Convention.

Berne Convention

Berne Convention was formulated in the year 1886, for the protection of Literary and Artistic Works. "To protect, in an effective and uniform a manner as possible, the rights of the authors in their literary and artistic works" is the aim of the Convention (WIPO, 2017)

Berne Convention protects literary works, artistic works, dramatic works, musical works and cinematographic works and it also protects derivative works based on other pre-existing works, such as translation, adaptations, and arrangements of music and other alterations of a literary or artistic work. Berne Convention states the duration of the copyright protection as 50 years after the author's death. The Berne Convention was revised several times to cope up with the technological challenges that is, first revision took place in Berlin in 1908, followed by the revision in Rome in 1928, in Brussels in 1948, in Stockholm in 1967, and in Paris in 1971 (Ahuja, 2015).

Madrid Agreement

Madrid Agreement was framed on April 14, 1891, which deals with International Registration of Marks and Protocol related to Madrid Agreement, concluded in 1989. Contracting countries to this Madrid Agreement, secure protection for their marks applicable to goods or services, registered in the country of origin, by filling the said marks at the International Bureau of Intellectual Property. Duration of the protection is valid for 10 years and which can be renewed by paying prescribed fees (Arora, 2016). Currently, a total of 100 members is under the Madrid Agreement covering 116 contracting countries.

World Intellectual Property Organization (WIPO)

WIPO is the global forum for intellectual property services, policy, information and cooperation, which was established in the year 1967. The mission of the WIPO is to lead the

development of a balanced and effective international intellectual property (IP) system that enables innovation and creativity for the benefit of all. WIPO has 191 member states and headquarters is at Geneva, Switzerland. WIPO administers conventions namely, PCT-The International Patent System, Madrid-The International Trademark System, Hague- The International Design System, Lisbon The International system of Appellations of Origins, and Budapest-The International Microorganism Deposit System (WIPO, 2017)

Patent Co-Operation Treaty

The Patent Co-Operation treaty is an International treaty, which assists applicants in seeking patent protection internationally for their inventions. It also helps patent offices with their patent granting decisions, and facilitates public access to a wealth of technical information relating to those inventions. PCT was framed at Washington on June 19, 1970, and the latest amendment to the PCT regulations was done on 1 July 2017. There are currently 152 contracting countries (Patent Cooperation Treaty, 2017).

TRIPS Agreement

TRIPS (Trade-Related Aspects of Intellectual Property Rights) Agreement is a multilateral agreement on intellectual property, which came into force on 1 January 1995. TRIPS. The WTO (World Trade Organization) administers agreement. It is an attempt to narrow the gaps in the way these rights are protected around the world, and to bring them under common international rules (WTO, 2017). The agreement operates on a foundation of two of the existing conventions by embodying the substantive provisions of the Paris and Berne Conventions, as well as adding new provisions (Colston, 1999). The types of intellectual property covered by the TRIPS Agreements are copyright and related rights, trademarks, including service marks, geographical indications, industrial designs, patents, layout-designs of integrated circuits and undisclosed information, including trade secrets. It establishes minimum levels of protection that each government has to give to the intellectual property of fellow WTO members (WTO, 2017).

TYPES and Categories of Intellectual Property Rights

According to WIPO, Intellectual property is divided into two categories that is Industrial Property and Copyright. Industrial property includes patents for inventions, trademarks, industrial designs and geographical indications. Copyright covers literary works (such as novels, poems and plays), films, music, artistic works (e.g., drawings, paintings, photographs and sculptures) and architectural design. Rights related to copyright include those of performing artists in their performances, producers of phonograms in their performances, producers of phonogram their recordings, and broadcasters in their radio and television programs (WIPO, 2017).

Patents

Patents are granted in respect of inventions, i.e. technological improvements, great and small, which contain at least some scintilla of inventiveness over what is previously known (Cornish, et.al. 2010).

As per WIPO, A Patent is an exclusive right granted for an invention, which is a product or a process that provides, in general, a new way of doing something, or offers a new technical solution to a problem. According to Halsbury's Laws of England, the word patent is used denoting a monopoly right in respect of an invention. The patent is a monopoly right conferred by the Patent Office on an

inventor to exploit his invention subject to the provisions of Patents Act for a limited period of time (Ahuja, 2015).

Patents are territorial rights and the exclusive rights are only applicable in the country or region in which a patent has been filed and granted, in accordance with the law of that country or region (Patents-WIPO, 2017).

Trademarks

According to WIPO, a trademark is a sign capable of distinguishing the goods or services of one enterprise from those of other enterprises. A product can be copied by a competitor and can become outdated by the introduction of new products, but a trademark is unique. A successful trademark is timeless and the most important source of market power and enables its owner to diversify in products and geographical markets (Bansal, 2014).

Internationally trademark is observed under the Madrid protocol. Duration of international registration of a trademark is valid for ten years and it can be renewed for ten years from the expiry of the preceding period. Protection of trademarks in India is governed by The Trademarks Act, 1999, which is amended in the year 2010 i.e., Trademarks (Amendment) Act, 2010. Registration in India is also valid for ten years and can be renewed time to time in accordance with the provisions of the Act.

Industrial Designs

According to WIPO, an industrial design may consist of three-dimensional features, such as the shape of an article, or two-dimensional features, such as patterns, lines or colour. In a legal sense, an industrial design constitutes the ornamental or aesthetic aspect of an article. In India, industrial designs are governed under the Designs Act, 2000. "Design" means only the features of shape, configuration, pattern, ornament or composition of lines or colour applied to any article whether in two dimensional or three dimensional or in both forms, by any industrial process or means, whether manual, mechanical or chemical, separate or combined, which in the finished article appeal to and are judged solely by the eye; but does not include any mode or principle of construction or anything which is in substance a mere mechanical device (The Designs Act of 2000).

Geographical Indications

"Geographical indication" in relation to goods, means an indication which identifies such goods as agricultural goods, natural goods or manufactured goods as originating, or manufactured in the territory of a country, or a region or locality in that territory, where a given quality, reputation or other characteristic of such goods is essentially attributable to its geographical origin and in case where such goods are manufactured goods one of the activities of either the production or of processing or preparation of the goods concerned takes place in such territory, region or locality (The Geographical Indications of Goods (Registration and Protection) Act). WIPO expresses a geographical indication (GI) as a sign used on products that have a specific geographical origin and possess qualities or a reputation that are due to that origin. Geographical indications are typically used for agricultural products, foodstuffs, wine and spirit drinks, handicrafts, and industrial products (Geographical Indications WIPO, 2017).

Copyright

Copyright was recognized only after the invention of printing in the 15th century, which enabled the reproduction of books in large numbers. Before that, creative writers, musicians,

artists wrote, composed or made their works for fame and recognition rather than to earn a living and question of copyright never arose because copying was a laborious and expensive process (Narayana, 2013). WIPO defines, Copyright (or author's right) is a legal term used to describe the rights that creators have over their literary and artistic works. Works commonly protected by copyright throughout the world include:

Literary works such as novels, poems, plays, reference works, newspaper articles

Computer Programs, databases

Films, musical compositions, and choreography

Artistic works such as paintings, drawings, photographs, and sculpture

Architecture; and advertisements, maps, and technical drawings (WIPO, 2017)

Copyright Law of India

Copyright is a right given by the law to creators of literary, dramatic, musical and artistic works and producers of cinematograph films and sound recordings. In fact, it is a bundle of rights including, *inter alia*, rights of reproduction, communication to the public, adaptation and translation of the work (Handbook of Copyright Law). "Copyright" means to do or authorise the doing of any of the following acts in respect of a work, such as literary, dramatic or musical work, not being a computer programme, computer programme, an artistic work, cinematograph film, sound recording (Indian Copyright Act of (1957)). Copyright in India is governed by the Copyright Act, 1957, which came into effect from January 1958. Further, the act was revised and amended time to time in the years, 1983, 1984, 1991, 1994, 1999, and 2012.

IPR and Digital Rights

In the digital age, the issue of privacy is an important subject where unauthorized data sharing, data integration, unethical data utilization and unauthorized public disclosure are the major areas of concern.

The major issues are to be considered as follows:

Is digitization to be considered as similar to reproduction, for example using Xerox machine?

Is digitization a creative activity such as translation from one language to another?

Can transmission of digitized documents through the Internet be considered as commercial distribution or public communication similar to broadcasting?

Can we consider the database as a special collected work that should be protected by copyright law?

What can be considered as fair use in the Internet environment? What are the concerns of the library community?

In the digital context if access restricted by the copyright owner, how could the public exercise fair use with those work?

The above issues are specific to the library. The libraries have allowed their users to read a document, to browse through the whole collection; to search through the library catalogue; to supply Xerox copy for research and education purpose; to procure photocopies of articles from other libraries or clearing centres; to widely distribute the re-produced copies of documents for public awareness and to provide interlibrary loan service. Whether all these activities will continue in the

digital age? If digitization is considered as reproduction work, it is quite clear that in digitization the initial work is merely changed into the digital form and the process of changing is accomplished by a machine, without any creativity. If it is considered as a translation from one language to another, the digitization is also a change from natural human language into machine language. However, in digitization, there is no creativity involved and it could be considered as a similar activity to reprography. The copyright protects only creative works. Simply transformation into the digital form of an original document cannot be considered as creative work. The transmission of information on the Internet can be considered similar to broadcasting; hence copyright law cannot be applied.

Ways for Protection of Digital or Intellectual Property

Digital Rights Management (DRM) technologies (also known as Electronic Rights Management Systems) ensure copyright through identifying and protect in the content, controlling access of the work, protecting the integrity of the work and ensuring payment for the access. DRM technologies prevent illegal users from accessing the content. Access is protected through user ID and password, licensing agreements. Another way to protect digital content is through Technical Protection Measures (TPM). These technologies allow publishing companies in securing and protecting content such as music, text and video from unauthorized use. If an author wishes to collect a fee for use of his or her work, then DRM technology can be used. TPM and DRM technologies are increasingly employed to sell and distribute content over the Internet.

Cryptography

Cryptography is the oldest mechanism employed to ensure security and privacy of information over networks. This involves scrambling (or encryption) of the information to render it unreadable or not understandable language, which only the legitimate user can unscramble (or decrypt). However, cryptography protects the work during transmission or distribution only. After the work is decrypted, it does not provide any protection.

Digital Watermark Technology

A digital watermark is a digital signal or pattern inserted into a digital document. It is similar to the electronic on-screen logo used by TV channels. A unique identifier is used to identify the work. The message might contain information regarding ownership, sender, recipient etc or information about copyright permission. The system consists of a watermark generator, embedded and a watermark detector decoder. The legal user can remove these watermarks with a predetermined algorithm. The watermarking technology is extensively used in protecting multimedia works.

Digital Signature Technology

The digital signature includes an identity of the sender and/or receiver date, time, any unique code etc. This information can be added to digital products. This digitally marks and binds a software product for transferring to a specified customer. Digitally signed fingerprints guarantee document authenticity and prevent illegal copying.

Electronic Marking

In this technique, the system automatically generates a unique mark that is tagged to each of the document copies. This technique is used to protect copyright as well as in electronic publishing where documents are printed, copied or faxed.

Security Features of Operating System

For the protection of files, data etc. the operating system of a computer such as Windows 2000 Professional, Windows 2000 Server, MS-SQL Server has some unique special security and integrity features.

Conclusion

The socio-economic development of a country depends largely on the creativity of her people and creative works cannot be encouraged without effective administration of copyright laws. Librarians as the custodians of most of the intellectual property cannot be left out in the successful implementation of copyright laws. Violation of copyright laws can easily be carried out in the library. In order to have books, author and creators of literary and artistic works, there should be adequate reward commensurate with the work. Hence, to encourage creativity the enactment of copyright law is essential. Librarian community needs to carry out the war against the violation of copyright laws. The librarians in the digital environment have some responsibility to collect information and help the readers by giving it even if it is an electronic form. Copyright protection should be encouraging creativity and not for creating hurdles in the use of information. The Librarians should work as a catalyst for the free flow of information between the owners of copyright and the users of the information.

References

1. International Conference on Intellectual Property Rights: Digital Transformation. (2019), 2019.
2. Bhatt, C. V. (2014). Is Digital Rights Management an IPR? *DESIDOC Journal of Library & Information Technology*, 28(5), 39-42. <https://doi.org/10.14429/djlit.28.5.214>
3. Bhattacharya, S., & Saha, C. (2011). Intellectual property rights: An overview and implications in pharmaceutical industry. *Journal of Advanced Pharmaceutical Technology & Research*, 2(2), 88. <https://doi.org/10.4103/2231-4040.82952>
4. Chattopadhyay, S. (2013). Intellectual Property Rights in Digital Environment. *National Conference on Reprographic Rights and Copyright Act: Challenges and Management*, 146-153. Retrieved from http://eprints.rclis.org/32511/1/Intellectual_Property_Rights_in_Digital_Environment_ISL.pdf%0A
5. Handa, S., & Bhatt, K. (2015). Intellectual Property Rights (IPR) in Digital Environment : an Overview in Indian Digital Environment. *International Journal of Digital Library Services*, 5(2), 117-123. Retrieved from http://www.ijodls.in/uploads/3/6/0/3/3603729/vol-5_issue-2.117-123.pdf
6. Hano, T., Ito, M., Ito, K., Kono, K., & Ohkubo, N. (2017). Dietary taurine supplementation ameliorates the lethal effect of phenanthrene but not the bioaccumulation in a marine teleost, red sea bream, *Pagrus major*. *Ecotoxicology and Environmental Safety*, 137, 272-280. <https://doi.org/10.1016/j.ecoenv.2016.12.005>
7. Jadhav, V. G. (2014). Intellectual Property Rights with special reference to Copyright Laws in India. *International Journal of Science and Research (IJSR)*, 3(7), 1130-1133. Retrieved from <http://www.ijsr.net/archive/v3i7/MDIwMTQxMjk3.pdf>
8. Kumar, V., & Singh, A. (2015). *Impact of Information Explosion on Library Professionals in Digital Technology Scenario. of IPR: Challenges for New Age.* Retrieved from http://nlutest.admissionhelp.com/download/publication/2015/Transforming_Dimension_of_IPR_-_Challenges_for_New_Age_Libraries.pdf#page=541

9. Mir, F. M. (2016). Intellectual Property Rights Issues and Challenges of Academic Libraries in Digital Environment. *International Journal of Computer Engineering in Research Trends*, 3(12), 639–644. <https://doi.org/10.22362/ijcert/2016/v3/i12/xxxx>
10. Patel, P. (n.d.). INTELLECTUAL, 1–52.
11. Pathak, P. J., & Das, S. (2001). Utilization of electronic information at IPR Library: a case study. *Information Studies*, 7(2), 109–120. Retrieved from http://search.proquest.com/docview/57491579?accountid=14167%5Cnhttp://www.yidu.edu.cn/educhina/educhina.do?artifact=&svalue=Information+Studies&stype=2&s=on%5Cnhttp://pqdt.calis.edu.cn/SearchResults.aspx?pm=0&q=%5Cnhttp://159.226.100.141/Reader/union_resu
12. Rights, I. P. (n.d.). CHAPTER III Intellectual Property Rights.
13. Sinha, M. K. (2015). Role of LIS Professionals in Introducing IPR, Copyrights and Digital Rights Management to University Community in Changing Environment, 2011(November).
14. Timings, L., Selection, D., Document, F. A., Grant, B., & Guidelines, G. (n.d.). GUIDE TO FINDING A DOCUMENT.
15. WIPO. (2016). What is Intellectual Property? What is Intellectual Property? *WIPO Publication*, 450(E), 25. <https://doi.org/10.1016/j.neuroimage.2005.10.001>
16. YARANAL, M. M., & RAMESHA, D. (2012). Managing Intellectual Property Rights (IPR) in Libraries: A Practical Approaches and Solutions. *International Journal of Digital Library Services*, 2(3), 43–50. Retrieved from <http://www.ijodls.in/uploads/3/6/0/3/3603729/43-50232.pdf>

An Aesthetic Study in the Select Works of Vijay Tendulkar: An Application of Rasa Theory

Manish Kumar Chaturvedy

Research Scholar, CSJM University, Kanpur

Dr. Ankit Trivedi

Supervisor, Assistant Professor, Dept of English, CSJM University, Kanpur

Abstract:

This paper undertakes a critical exploration of the concept of *sthāyibhāva* and its role in evoking *rasa* in literary and dramatic texts. Grounded in the Indian knowledge system, the study foregrounds a non-western interpretative framework rooted in Bharatamuni's *Nāṭyaśāstra*, emphasizing the psychological processes that connect the creator (*kavi*), critic, and *sahṛdaya* (sensitive reader or spectator). The research highlights that aesthetic experience in Indian poetics is not merely a spontaneous act but a structured phenomenon emerging from the interplay of *vibhāva* (determinants), *anubhāva* (consequents), and *vyabhicāribhāva* (transitory states), culminating in *rasa*. The paper identifies the fragmentation of critical continuity as a major challenge: the colonial neglect of Sanskrit texts, the narrow lens of Western aesthetics, and the absence of contemporary application models have all contributed to gaps in Indian aesthetic criticism. By analyzing the *chit-vṛtti* (mental modifications) of protagonists and tracing how the *sahṛdaya* relishes pleasure through cyclic patterns of emotional experience, this research proposes a psychological model for the application of *rasa-sūtra* in textual analysis. This theoretical lens is applied to the select works of Vijay Tendulkar and screened play *Nisānt* by Satyadev Dubey, whose plays and screenplay embody complex psychological structures and ethical dilemmas that resonate with Indian dramaturgical principles. The paper concludes that decoding the repetitive emotional patterns of characters not only ensures a deeper *rasa*-realization but also restores the philosophical and experiential depth of Indian aesthetic theory in contemporary literary criticism.

Keywords: *citta*, *vṛtti*, *sthāyibhāva*, *vibhāva*, *sahṛdaya*, Critical act

Introduction:

Aesthetics, as a branch of literary and philosophical inquiry, seeks to understand the nature of beauty, artistic experience, and the affective resonance of art on the human mind. Within English literary studies, aesthetics has historically operated at the crossroads of philosophy, psychology, and literary criticism, shaping our understanding of literature not simply as a collection of narratives but as a medium for emotional and intellectual engagement. The word "aesthetic" itself, derived from

the Greek *aisthesis*, denotes “perception” or “sensation,” foregrounding the human experience of art. In its Western evolution, aesthetics moves from classical models of mimesis and moral didacticism toward modern notions of disinterested pleasure, emotional catharsis, and structuralize or reader-centered responses (Kant 45).¹ Conversely, Indian aesthetics presents a psychological and experiential model, grounded in the *Sanskrit* tradition of poetics (*kāvyaśāstra*), where the experience of *rasa*—the aesthetic flavor of emotion—becomes the ultimate goal of literary creation and reception (Bharata 12).² The historical development of Western aesthetics begins with Plato, who regarded art as mimesis, a form of imitation twice removed from truth, and thus potentially deceptive. His critique of poets in *The Republic* stems from the idea that art appeals to the irrational parts of the soul, potentially destabilizing the ideal state. Yet, his theory also acknowledges the formative power of music and rhythm in shaping character. Aristotle, in his *Poetics*, famously rehabilitated art, arguing that tragedy, through catharsis, purges pity and fear, offering a psychological and moral function.³ the cathartic process became foundational for centuries of Western literary theory, influencing neoclassical drama and Shakespearean criticism alike. The Enlightenment and Romantic periods expanded aesthetics into the realm of subjective experience, with Kant introducing the idea of disinterested pleasure in his *Critique of Judgment*—a pleasure independent of personal desire or utilitarian function.⁴ This idea resonates with the Indian notion of aesthetic detachment (*virāga*), where the spectator relishes emotion without personal entanglement, achieving *ānanda*, or aesthetic bliss.

In contrast, Indian aesthetics evolved through a systematic engagement with the psychology of emotion and artistic communication. Bharatamuni’s *Nāṭyaśāstra* (circa 200 BCE–200 CE) remains the foundational text, presenting the *rasa-sūtra*, which posits that *rasa* is the culmination of artistic experience, arising from the union of determinants (*vibhāva*), consequents (*anubhāva*), and transitory emotions (*vyabhicāribhāva*) in the presence of permanent emotions (*sthāyibhāva*).⁵ Unlike Western models that oscillate between moral suspicion and psychological catharsis, Indian poetics regards art as a path to universalized emotional awareness. The *sahṛdaya*, the ideal recipient with a “sensitive heart,” experiences *rasa* as aestheticized emotion—not the literal emotion of the character, but its universal essence, distilled through artistic form. This distinction, developed extensively by Abhinavagupta in his *Abhinavabhāratī*, aligns aesthetic experience with spiritual self-awareness, positioning art as a microcosm of liberation (*mokṣa*).

The integration of Indian and Western aesthetics in modern literary and film analysis responds to two contemporary needs. First, it addresses the lacuna in English literary criticism where non-Western frameworks remain underutilized, despite their robust explanatory power for emotional and narrative structures. Second, it enriches the interpretation of modern Indian texts, which often

- Mammata, in *Kāvyaṣṛkāśa*, synthesized previous traditions into a comprehensive model of poetic theory, emphasizing the integrative role of *rasa*.
- Jagannatha, in *Rasaṅgādhara*, reaffirmed *rasa* as the soul of poetry, moving toward a more experiential and less ritualized understanding.

Modern scholars like K. Krishnamoorthy, V.K. Chari, and Kapil Kapoor have revived Indian aesthetics, engaging in comparative and theoretical dialogue with global literary studies. Chari, for example, articulates that *rasa* is a meta-emotion, not reducible to the character's literal feelings, but a universalized aesthetic state experienced by the audience. Kapil Kapoor bridges traditional Sanskrit poetics with modern semiotics and discourse analysis, underscoring its unrealized potential in world literary theory.

Western Aesthetics and Literary Theory: The Western lineage of aesthetics moves from classical mimesis to modern phenomenology and cognitive theory, marking a shift from external form to internal experience. Plato, in *The Republic*, viewed poetry as a mimetic art, twice removed from truth and ethically suspect, foreshadowing the moral ambivalence toward literature in later European thought. Aristotle, in *Poetics*, countered this by framing tragedy as an instrument of catharsis, where pity and fear are purified through staged emotional experience.⁸ The Romantic and Victorian periods transformed the discourse, emphasizing emotion, imagination, and moral cultivation. Wordsworth's "spontaneous overflow of powerful feelings" and Coleridge's concept of organic form foreground the creative and emotive role of the poet, while Matthew Arnold's "high seriousness" positioned literature as a moral and cultural force.⁹

The 20th century ushered in formalism, New Criticism, and reader-response theory, progressively shifting attention to the text and the reader's experience. T.S. Eliot's "objective correlative" aligns with the *vibhāva-anubhāva* framework, where external elements evoke specific emotional responses. I.A. Richards and Cleanth Brooks developed close reading as a methodology, emphasizing textual integrity and affective precision.¹⁰ Reader-response critics like Wolfgang Iser and Hans-Georg Gadamer then highlighted the active role of the audience, a concept resonant with the *sahṛdaya* principle in Indian poetics. In recent decades, cognitive literary theory and neuroaesthetics—championed by scholars like Lisa Zunshine—have explored how literature engages attention, emotion, and empathy, inadvertently corroborating millennia-old insights from Indian theories of *citta-vṛtti* and *rasa*.

Comparative Insights and Research Gaps: Both traditions reveal a shared concern with the transformative power of art, but their teleology's differ. Western aesthetics often orients toward moral instruction or psychological release, while Indian poetics frames art as experiential

emotional laboratory, where *sthāyibhāva* and *vyabhicāribhāva* interplay generate a cyclical emotional journey for the *sahṛdaya*.

The play opens in Jaisingh Jadhav's home, where his wife Sarita and uncle Kakasaheb engage in casual domestic banter. This first sequence evokes *hāsya* and *śānta rasas*, as the domestic atmosphere is tranquil with traces of light humor. The *āṅgika abhinaya* (gestural acting) here is minimal—Sarita moves calmly through household tasks, reflecting *śānta sthāyibhāva*, while her *vācika abhinaya* (spoken expression) is soft and attentive. Cognitive-poetically, this opening primes the audience for a baseline of normalcy against which the later moral disruption will resonate more strongly.¹

The scene's *vibhāv* is the setting of a public press meet and the presence of cameras—stimulates the audience's moral unease. Kamala's physical stillness and hesitant *vācika abhinaya* contrast sharply with the brash gestures and confident speech of the journalists, producing *vyabhicāribhāvas* of shame, curiosity, and discomfort in the *sahṛdaya*. Cognitive-poetically, this aligns with empathy theory: the audience oscillates between detached observation and affective alignment, moving toward *karuṇa rasa*.²

The domestic scenes following the press event mark the emotional center of the play. Sarita's interactions with Kamala gradually unmask the patriarchal hypocrisy of her own marriage. Here, *karuṇa rasa* dominates, as Sarita realizes that she, though legally a wife, shares the same lack of autonomy as Kamala, the purchased tribal woman. *Sattvika abhinaya* (involuntary emotional expression) surfaces as tears, silent pauses, and gestures of suppressed anger, embodying *vyabhicāribhāvas* of grief, helplessness, and awakening. The *rasa* cycle in this act progresses from *hāsya* to *karuṇa*, deepened by *śānta* undercurrents, inviting the audience into a universalized reflection on gendered subjugation.

The final sequence, where Kamala is taken away and Sarita confronts the fragility of her position, completes the *rasa* circuit. *Karuṇa rasa* peaks as Sarita internalizes her existential entrapment, and the play concludes in a reflective *śānta rasa*. Cognitive-poetically, this cyclical emotional experience mirrors *citta-vṛtti* theory, where emotional modifications rise and subside, leaving the spectator in a state of contemplative awareness—the ultimate aim of Indian aesthetics as Abhinavagupta conceptualized *rasa* as a path to *ānanda*.

Nishant: Scene-Wise *Rasa* Progression and Cinematic *Abhinaya*

Shyam Benegal's *Nishant* (1975), with dialogues by Satyadev Dubey, portrays the psychological and social terror of feudal oppression. A *rasa*-centered analysis reveals a gradual emotional crescendo, where fear, anger, and reflective void move the audience through *bhayānaka*, *raudra*, *vīra*, and *śānta rasas*. Unlike *Kamala*, which relies heavily on dialogue and verbal *abhinaya*,

From a cognitive-poetic perspective, both *Kamala* and *Nishant* illustrate how repetitive emotional patterns guide audience experience, fulfilling the third research gap of integrating classical Indian theory with modern psychological approaches. In *Kamala*, the audience's empathy oscillates between curiosity, irony, and pathos, mirroring the domestic realization cycle of Sarita, which in turn maps onto *citta-vṛtti* dynamics—emotional modifications rising and subsiding in rhythm with narrative revelation. In *Nishant*, the spectator's emotional journey mirrors the collective psychology of the village: fear (*bhayānaka*) accumulates until anger (*raudra*) catalyzes heroism (*vīra*), ending in reflective void (*śānta*). This sequence-based mapping of *rasa* aligns with cognitive narrative theory, which posits that emotional arcs organize narrative memory and moral engagement.

By applying the research gaps into an applied model, the analysis of *Kamala* and *Nishant* demonstrates that Indian aesthetics is not merely descriptive or historicist, but predictive of audience engagement in modern performance media. It offers a scene-wise, psychologically credible framework that unites classical theory with contemporary narrative cognition, validating the living applicability of *rasa* theory in global literary and cinematic studies.

Conclusion

The exploration of Indian and Western aesthetics through the study of Vijay Tendulkar's *Kamala* and Shyam Benegal's *Nishant* underscores the enduring power of cross-cultural literary frameworks to deepen our understanding of modern texts. This research has demonstrated that *rasa* theory, far from being a static relic of classical *Sanskrit poetics*, remains a living interpretive methodology that can map the psychological and emotional structures of contemporary literature and cinema. By engaging the three research gaps—the absence of applied models, the tendency toward terminological oversimplification, and the limited integration with psychological and cognitive approaches—the study has shown that classical Indian *poetics* can be revitalized for global literary studies, offering insights that complement and expand the Western aesthetic canon.

In the case of *Kamala*, a *rasa*-based analysis revealed that the play's emotional architecture extends far beyond social realism. Jaisingh's oscillation between *vīra* and ironic *hāsya*, Kamala's silent *karuṇa*, and Sarita's journey toward self-awareness and reflective *śānta* create a cyclical emotional pattern that mirrors *citta-vṛtti* dynamics and allows the *sahṛdaya* to experience

11. Nandita Chaudhary and Sriram S. suggest that this empathetic process aligns with cross-cultural findings in cognitive literary studies, where the *sahṛdaya*'s emotional crescendo in response to *abhinaya* parallels modern notions of embodied simulation and affective mirroring (Chaudhary and Sriram 120).

aestheticized empathy. Similarly, *Nishant* emerges not only as a political narrative of feudal oppression but as a psychological theatre of emotion, where *bhayānaka*, *raudra*, and *vīra rasas* unfold sequentially, leading the audience to *śānta*, a reflective void akin to post-cathartic awareness. This alignment between narrative emotion and aesthetic theory validates the applicability of *rasa* as an analytical tool for modern Indian texts, fulfilling the first research gap by providing a workable model for applied literary analysis.

The second gap, involving terminological oversimplification, was resolved through a careful preservation of Indian aesthetic categories alongside cross-cultural comparison. By resisting the temptation to equate *rasa* with catharsis or *karuṇa* with Western pathos simplistically, this study maintained the philosophical and experiential integrity of Indian poetics. The emotional arcs of *Kamala* and *Nishant* were therefore understood in their own aesthetic terms, while also being contextualized in relation to Western theories like Eliot's objective correlative and reader-response phenomenology. This approach demonstrates that cross-cultural literary criticism is most productive when it balances dialogue with respect for conceptual nuance, rather than collapsing distinct traditions into interchangeable terms.

The third gap, addressing the integration of psychological and cognitive perspectives, allowed the research to bridge classical poetics with contemporary literary science. Scene-wise *rasa* mapping and *abhinaya* analysis revealed that emotional cycles in both texts align with modern theories of narrative cognition and empathy, as described in cognitive poetics and neuroaesthetics. In *Kamala*, the audience experiences a gradual oscillation from curiosity to empathy to reflective awareness, mirroring *citta-vṛtti* modulation as emotions rise and subside. In *Nishant*, the collective emotional journey of the village—from fear to rage to reflective quietude—creates a shared affective rhythm, reinforcing the communal nature of aesthetic experience that Bharata and Abhinavagupta conceptualized centuries ago. By demonstrating this cognitive continuity between ancient theory and modern affective reception, the study has reaffirmed the universal psychological insight of Indian aesthetics.

This conclusion also speaks to the broader implications for literary studies and performance analysis. The fusion of Indian and Western aesthetics not only enriches textual interpretation but also opens pathways for interdisciplinary research, linking literary criticism, psychology, performance studies, and even digital humanities. By showing that modern plays and films can be read as emotional laboratories, this paper situates Indian aesthetics as a vibrant, globally relevant critical framework capable of illuminating narrative emotion across cultures and media. Such integration invites future scholarship to explore expanded corpora, quantitative audience studies, and pedagogical applications that make *rasa* theory an active component of contemporary literary and film criticism.

In essence, this study concludes that the timeless insights of Indian aesthetics—rooted in *rasa*, *dhvani*, *vakrokti*, and the psychology of aesthetic experience—remain profoundly relevant to 21st-century critical practice. When applied to the complex emotional worlds of Tendulkar and Dubey, they reveal that art’s highest function is not only to depict reality or evoke emotion but to universalize human experience into reflective aesthetic joy. This continuity of emotional resonance, from ancient *Sanskrit* drama to modern stage and screen, affirms that literature and film remain enduring sites of psychological transformation and cultural dialogue, where the heart of *rasa* beats as strongly today as it did in Bharata’s theatre.

Endnotes:

1. Bharata defines *sthāyibhāva* as the stable emotion that becomes the foundation for *rasa* in dramatic performance (*Nāṭyaśāstra*, trans. Ghosh 112).
2. M. S. K. Aha observes that the contemporary relevance of Indian aesthetics lies in its capacity to offer a psychological framework for aesthetic reception, beyond the limits of Western criticism (“The Contemporary Relevance of Indian Aesthetics”).
3. The triad of *vibhāva*, *anubhāva*, and *vyabhicāribhāva* is considered essential for the manifestation of *rasa*; it structures the aesthetic experience as described by Arjunwadkar (“The *Rasa* Theory and the Darśanas”).
4. Nandita Chaudhary and Sriram S. argue that cognitive-emotional experiences in Indian contexts demand recognition of “backyard psychologies,” which parallels the *sahṛdaya*’s role in *rasa* reception (Chaudhary and Sriram 115).
5. Vijay Tendulkar’s *Silence! The Court Is in Session* exemplifies the interplay of stable emotions and transitory states in a way that fulfills the classical *rasa sūtra* (Tendulkar 45).
6. Lyne Bansat-Boudon highlights that interpretive gaps in Indian aesthetics often arise from colonial neglect and fragmented engagement with *Sanskritic* terminology (“On Śaiva Terminology” 41).
7. The concept of *chit vṛtti* in Indian poetics corresponds to mental modifications that shape the spectator’s aesthetic experience, aligning with Rajesh Kasturirangan et al.’s phenomenological model of conceptualization (Kasturirangan et al. 281).
8. John W. Fernandes explains that aesthetic pleasure (*ānanda*) arises not from the raw emotion itself, but from the reflective savoring of its artistic transformation (“The Threshold of Beauty” 72).
9. Satyadev Dubey’s direction often explores moral and psychological cyclicality, echoing the *vyabhicāribhāva* patterns in Indian dramaturgy (Aha).
10. Applying *rasa* theory to modern Indian drama allows critics to restore “philosophical and experiential depth” to literary criticism, which Catherine C. Syrewicz suggests aligns with the motivations that enhance the creative and receptive processes (Syrewicz 185).

Universal Importance of Indian Culture in *The Immortals* of Amit Chaudhuri

Dr. Balesh Kumar Chauhan

Department of English, G.K.V (DU), Haridwar, 249404

Mail: baleshkumarchauhan@gmail.com

Culture is a way of life that teaches us how to behave with others on social platform. India is a nation that boasts of rich culture. Indian culture is the amalgamation of different social norms and values. It applies beyond its geographical boundaries with other nations where the influence of Indian culture is strongly observed. Indian culture is known as a reflection of different places cultures. It taught people to live in harmony without making any violence. It has been recognized in many countries as the people of other places are assimilating Indian tradition and culture in order to improve their standard. Its unique features are based on our cultural tradition which teaches us to show respect for elders, unity in diversity, and do hard work. Sharing with caring is also an important aspect of Indian culture as we people never hesitate to share our cultural values with others. It is one of the most important gifts which we have received from our ancestors. At world platform, we have a significant status when talks about the cultural heritage of India. We people are known for our culture and tradition in the world. Our historical background of cultural tradition, unity in diversity and rigid social norms makes us unique in the world. Indian culture reflects our identity in the world. However, people are adapting modernity in a rapid manner but a glimpse of Indian culture is clearly seen in the heart of the people of India. The culture of India makes us unique on world platform. Being a writer of cosmopolitan nature, Chaudhuri is well aware from the cultural values of different places and the same thing he tried to reflect in his all novels. Through this paper I have tried to reveal the importance of Indian culture in the novels of Amit Chaudhuri.

Key Words: Culture, Tradition, Value, Heritage etc.

Culture has an important role in transforming of the nature of an individual. The study of universal importance of Indian culture at world level has become an area of concern for the researchers. Many of the scholars have tried their mastery to find out the major aspects of culture from one place to another. The writer of this *The Immortals* has tried to solve this problem in his own style. Thus, we can find a blank space for research in Chaudhuri's this work, which deserve a proper study, analysis and interpretation. However, a lot of works have been done already to understand the facts of culture at different levels. The present work is a serious endeavour to trace out the further dimensions and area regarding universal importance of Indian culture in the novels of Amit Chaudhuri.

Culture is a unique term which is rare to confine in particular zone. The word culture is originated from the Latin word, *colere* which means cultivating, inhabiting, protecting or worshipping. It has various aspects of life. We can measure the value of culture in two major important terms.

The first one is the material aspect of culture and the other one are non-material. These terms continuously flow from one generation to the next in formal and informal way. According to Raymond Williams, one of the founders of cultural studies (q.v.), 'culture' is one of the most difficult words to define. It varies region to region. Cultural transmission is a historical process. However, Indian culture put a vast impact at global level. As we know that the demand of Indian classical music and Sanskrit language is increased with flow of the time. Chaudhuri is a novelist who is fond of universal cultural values and the same he shared in an interview to Galvan when he accepted, "the dispersal of culture from the self into the various sides"(Chaudhuri, 48). His narrative is the narrative of the universal culture. He never advocates the idea of closed doors and windows of the West. He supports the idea of liberty of life to live, "with millions and millions of people" (Chaudhuri 46). In *The Immortals* of Amit Chaudhuri we can find the same aspect of life which the writer has illuminated in a grand style. Chaudhuri is writer of prolific nature who got name and fame across the world in the field of literature. Being his versatile personality he got various international awards in the field of writing and composing music. Sheobhusan Shukla and Anu Shukla commented Chaudhuri's cosmopolitan natures as they said, "Amit Chaudhuri's exploration in the alternative tradition which draw on the best in the west and yet remain firmly and deeply rooted in Indian culture and ambience. (Preface, An exploration in the Alternative Tradition)

India is popular for its cultural diversity in terms of its language, religion, and customs. The people from different cultural background form a unique identity of this nation. It is considered that an outsider has to face many problems when comes into contact with other culture because the settled place's culture does not allow that outsider to merge easily in itself. As we know that we people are the brand of our cultural parameters and reflect it on world platform. In 'India and Vietnam', Patil has described the term culture in his own way:

Like a banana flower or onion, exists in layers. We can only understand it, if we peel it layer by layer, cover by cover. However, it is easier said than done. The outer layer is easy to perceive as it comprises concrete and tangible manifestations like art, monuments, food, language, etc. The middle layer consists of norms and values, and hence it takes us some time to unfold it. The inner layer is rather difficult to penetrate because it subsumes assumptions about birth, life, death, happiness, unhappiness, and so on. (101-108)

The Immortals depicts the importance of the Indian classical music in age of the modernity. Shyamji a music teacher who was leading a misery life since his birth time as his family background was not good. He has a mastery over classical music which he gained from his ancestors in form of the universal cultural heritage. But presently he becomes frustrate when gets aware that no one is showing its interest in art of classical music in India but the same art getting popularity among the foreigners. Now he lifts the benefits for his art and fortunately finds a rich personality among his disciples. She was a N.R.I foreigner who pursues Shyamji to give the lesson in classical to her foreign friends in London. On her request Shyamji gets ready to go in foreign place. At reaching there he feels sadness inside his soul because he misses each and every aspects of Indian culture when finds himself alone in crowd of the foreigners. A feeling of outsider makes a home in

protagonist's mind when nobody takes him serious in London. Vandana Rajput in her Ph D thesis entitled, *No Place Like Home: Regionalism in the Novels of Amit Chaudhuri* put a great remarks of universal importance of Indian culture:

The novel talks about his stay at the Oxford University and his nostalgia for his parents and his homeland, Calcutta. Chaudhuri recreates the state of mind of a young man coming in terms with his loneliness, nostalgia and alieanation in a unique way. It is a manifestation of the mental state of a person caused by his interiorised experience. The narrator feels lonely in the new place as he is not able to adopt the new culture, i.e. England. He misses the rich culture of his region, Calcutta and is unable to survive in the new culture. (30)

Indian culture is one of the oldest cultures of the world. And the people of India have preserved it in their heart in a respectful way. In an interview given to Farnando Galvan, Chaudhuri himself claimed the universal importance of Indian culture in saying that, "I grew up with Bengali culture and with Bombay culture, which was a mishmash of Western culture and the local culture" (Chaudhuri 45). The slogan of "Vasudhev Kutumbakam" makes our national identity unique. We respect the feeling of an outsider and give him/her a space for adjustment with ourselves. So this nature makes us different on world platform. In conversation with Sumana R. Ghosh, Chaudhuri himself remarked:

I think this is a very problematic thing, this talking about India and the West because in India, as compared to the west or some other country, we are in a fluid position all the time. We don't know where in us the west begins and the Indian starts. We don't know where they become interchangeable terms, where in the word 'Bengali' the west or colonial begins and the Indian or native starts. (Alap, 168)

The people of India always have respect for its nation. In the age of globalization people are getting the chance to go from one place to other in order to make themselves aware from the culture of the world and in the same manner the people of the west and the other countries showing their interest in Indian culture and its traditions. Chaudhuri currently lives in London but still gives preference to his native culture. In an interview given to Farnando Galvan Chaudhuri claimed,"I feel in some ways almost closer to Jibanand Das that does not mean that I don't think Tagore a great writer and poet. But I think Ray's films meant a lot to me and later on the writer Bhibhuti Bhushan Bandyopadhyaya from whose novel Ray created his film *Pather Panchali*. It's a very modernist novel in a sense.(48-49) In past, India have faced many invasion from the different part of the worlds. We have faced the invasion of Sikandar, Mughals and later then British. These entire invasions have tried to break down our civilization and culture but in spite of these invasions we did not move an inch from our culture. Chaudhuri follows Saidian concept when he tried to judge the western thought about India culture. He not only challenges Indian concept about the west but also the west about India as he given:

I don't think Saidian criticism addresses the face that India is not in every sense of the word just different from the west, and that difference is just misunderstood by the west and

misrepresented. In many ways India in itself has a middle class which is very like the western middle class, and that middle class has its own forms of oppression and has its own 'other' within India. (On Belonging,48)

Chaudhuri introduced an affection of Indian way of life with modern counterpart but at the end of the day, the writer has kept himself rooted with Indian culture and tradition. The shifting cultural values of Indian society remained a main focus of this novel. Arun Kumar Yadav, in his article, "Socio Cultural Aspects of Life: A Study of Amit Chaudhuri's Novels" remarked for universality of Indian culture:

Amit Chaudhuri represents both a synthesis of and a tension between his Bengali and postmodern sensibility. His writings serve as a wonderful key to understanding the vitality and specificity of Indian modernity and of modern transformation of Indian civilization. His works reflect the Indian values coated in Bengali sensibility. His works show the influence of a particular space on the characters and events of his novels. (3)

We people think that English language is must to lead a better future. Chaudhuri has tried to depict the increasing involvement of foreign culture in India. Currently, English is not remained a foreign language it become an international language. The influence of foreign language on Indian people affirms Chaudhuri's views as he calls English an international language but he also pays respect for his native language. However, English become a part of the Indian people but Chaudhuri never forgets his native tongue. He keeps universal importance of his Indian culture in the form of preserving his native language which he shared this idea to Galvan:

As I listened to you read this out, I realised that my own views have changed, because I don't think English is a foreign language. But at the same time I don't think, as many people say, it's-in any sort of unproblematic way-an Indian language as well. Yes, it is a language used in India, it's an Indian language to me for all kinds of purposes, and yet it's not obviously an Indian language in the way Bengali or Sanskrit are Indian languages. (Chaudhuri 48)

In terms of social relations like the family, caste and lifestyles there is a unique identity of Indian cultural values in world. Asia. The most important factor for this unity in India is its traditional way of life which is rooted in the processes of cultural communication and interaction. The paper explicitly observes the universal cultural importance in terms of its unique focus on different aspects of cultures. The author of the novel has smartly depicted the universal value of Indian culture. India is a nation of different states and all its' states have different particular regional culture. In an interview given to Farnando Galvan he accepted the universality of Indian culture during his residential experience at Oxford in London:

I suddenly realized what a strange place this is, which I had never seen before, and the more I saw it as a local culture rather than some place called England, the more I saw differences within England, that Oxford is this sort of place. It's a very unreal place, quite different from another small town, quite different from London and to discover that was a very estranging experience. (Chaudhuri 46)

However, geography seems to have played an important role in engendering Indian cultural values and the sense of Indianness. Most of the people of India like to live in free atmosphere due to its cultural freedom, while in West there is not so as they prefer secrecy and closeness. Chaudhuri remarked this difference in an interview given to Galvan:

I believe exists in the West because of the closed spaces of the West. In India those closed spaces are always being undermined, firstly because the window is left open and then the streets are always full of itinerants, so you always have this other life coming in and encroaching upon your own. The sense of privacy, of private space, is always being assaulted and broken down, people are always coming in, interrupting you. (Chaudhuri 46)

Nirmalya's father has a foreign friend named Dyer who has two children. Mathew is the older son of Dyer and a younger one is the daughter of him. Both children were nourished into the influence of western culture as for them, their parents proved a source, equally of meaningless rule, restricting behaviour and endless pocket money. They were leading a public consumption life in India. Although, Mathew was only three years older to Nirmalya, but his cultural background proved him a mature person. Like other foreigners Mathew and his sister were free and independent to take their own decision. They dominate Nirmalya, every time whenever they got chance. Their frankness in conversation of sexual topics were the outcome of their cultural background which was apart from the Nirmalya's Indian cultural background. Chaudhuri has tried to depict the universal values of Indian culture through this episode as he told us that Mathew feels free to flirt with girls as, "he had many girlfriends, and the moral ambiguity of this fact gave him a sort of strength. 'No girl over sixteen in Britain,' he had told Nirmalya, one afternoon, like one who, after discussing several exciting possibilities, returns reluctantly to the sheer ordinaries of things, 'is a virgin'(Chaudhuri 84). The background of cultural difference in behaviour of Mathew is exposed when he asks to Nirmalya: "Do you sleep with your girlfriends?"(Chaudhuri 84) Matthew's personality for Nirmalya, "was somewhat exotic, as English book were."(Chaudhuri 85) Matthew's sister also reflects the same exotic personality because once, "to show her affection, she once lifted her dress in front of Nirmalya and pulled down her panties"(Chaudhuri 87). And remarks in reverse, "I know why you come here,' she had knowingly. 'You want to see my mother's mammas"(Chaudhuri 87).

The people of India have intentionally accepted western cultural values in their general life. The rapidly changes of society makes Chaudhuri astonished. The universal importance of Indian cultural values remained the main focus of Chaudhuri's fictions. Arun Kumar Yadav, in his article, "Socio Cultural Aspects of Life: A Study of Amit Chaudhuri's Novels" remarked for universal importance of culture of India:

Amit Chaudhuri represents both a synthesis of and a tension between his Bengali and postmodern sensibility. His writings serve as a wonderful key to understanding the vitality and specificity of Indian modernity and of modern transformation of Indian civilization. His works reflect the Indian values coated in Bengali sensibility. His works show the influence of a particular space on the characters and events of his novels. (3)

Nirmalya becomes the favourer of Indian classical culture as he tries to pursue Shyamji to teach him classical music to quench his thirst of music. But Shyamji past experience of classical does

Together, these female saints—Akka Mahadevi, Lal Ded, Meera Bai, and Andal—construct a powerful counter-narrative to orthodox religiosity. They use Bhakti as a medium to critique oppressive institutions and articulate a theology that embraces emotion, desire, and autonomy. They reject roles imposed on them and instead define their identities through divine love. Whether it is Akka walking naked through forests, Meera abandoning her palace, Lal Ded meditating in caves, or Andal expressing divine longing in verse, these women stand as testaments to spiritual resistance.

Through their verses, these women transcended not only gendered limitations but also the very binaries that structured their existence—sacred/profane, body/soul, love/desire, obedience/rebellion. In reimagining God as a beloved, they reclaimed their right to speak, feel, and desire—on their own terms. Their poetry was not confined to temple walls or royal courts; it erupted from the recesses of hunger, longing, rage, and ecstasy. They wrote not as passive recipients of divine grace but as active seekers, lovers, rebels, and visionaries. These were women who had nothing, and yet claimed everything by daring to love God on their own terms. Their devotion was not quiet, submissive piety—it was defiant, erotic, and transformative. Their Bhakti was not a whisper in the margins but a roaring fire that burned through social conventions.

They shattered the image of the ideal woman—the chaste, silent, sacrificing figure enshrined in history—and offered instead the image of a woman who sings, desires, questions, dances, walks away, and reclaims the divine in her own body. In refusing to be defined by the men around them, they defined themselves through divinity. They turned the inner world of longing into a radical site of freedom. In their poetry, God was not a distant judge but an intimate lover—capable of tenderness, rage, absence, and union. And in that union, these women found not just salvation, but moksha.

Each poem they composed was a gesture of self-making, a declaration that even in the most oppressive circumstances, the soul—especially a woman's atman—could rise, reach, and merge with the divine. Their legacy is not merely one of devotion, but of courage, authorship, and transformation. They did not just write about God. They rewrote what it meant to be a woman, a lover, and a seeker of truth.

Even today, the legacy of these female Bhakti saints reverberates powerfully across time and space. Their voices, once dismissed or buried under layers of history, continue to echo through temple chants, academic discourse, and feminist movements. Their songs were not just hymns; they were acts of rebellion, reclamation, and self-assertion. In a world that denied women agency, they redefined what it meant to love, to long, and to be free. They dared to desire—and in doing so, transformed desire itself into a sacred act. Their poetry did not merely challenge norms; it rewrote the language of devotion, fusing prema with the divine, the personal with the political, the worldly with the spiritual. These women didn't just carve a space for themselves in the spiritual realm—they shattered boundaries and built new ones in their own image. In reclaiming the divine as lover, they reclaimed themselves. Through Bhakti, they turned resistance into transcendence—and in their fearless surrender, they became eternal.

Bibliography

1. Chattopadhyaya, K. (Ed.). *The Bhakti Movement: A New Interpretation*. Oxford University Press, 2001.
2. Ghosh, P. *Women and Bhakti in Medieval India*. Cambridge University Press, 1997.
3. Mankekar, P. *Unraveling the Female Divine: Gender and Bhakti*. Routledge, 2015.
4. Narayan, K. *The Role of Women in Medieval Indian Society*. Sage Publications, 2009.
5. Sharma, R. *Medieval Indian History: Society and Culture*. Oxford University Press, 2005.
6. Thakur, B. *Female Saints and Their Struggles: A Study of Bhakti Poetry*. University of Delhi Press, 2010.
7. Ramanujan, A. K., translator. *Speaking of Śiva*. Penguin Books, 1973.
8. Akka Mahadevi. *The Poems of Akka Mahadevi*. Translated by A. K. Ramanujan, Oxford University Press, 1991.
9. Meerabai. *The Songs of Meera: A Translation*. Translated by Robert Bly, Penguin Books, 1996.
10. Hawley, John Stratton, and Mark Juergensmeyer, editors. *Songs of the Saints of India*. Oxford University Press, 1988.
11. Lal Ded. *Lal Ded: The Voice of the Divine*. Translated by C. M. Naim, University of Chicago Press, 1994.
12. Andal. *The Divine Song of Andal: A Translation of the Tiruppavai*. Translated by M. V. Swaminathan, Bharatiya Vidya Bhavan, 2000.

संस्थापक
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
The Founder of
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya



स्वामी श्रद्धानन्द जी
Swami Shradhdhanand Ji
(1856-1926)

गुरुकुल-पत्रिका में शोध पत्रों के प्रकाशनार्थ नियम एवं निर्देश

गुरुकुल पत्रिका का प्रकाशन गुरुकुल काँगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार द्वारा सन् १९४८ से निरन्तर हो रहा है। यह शोध पत्रिका वेद, संस्कृत, दर्शन, धर्म, संस्कृति, आयुर्वेद, सिद्धान्त ज्योतिष, प्राचीन भारतीय इतिहास आदि प्राच्य-विद्याओं में निहित ज्ञान-विज्ञान को अनावृत्त करने वाली है। इस पत्रिका में उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित शोध-पत्र ही संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाओं में स्वीकार्य होंगे।

१. गुरुकुल पत्रिका में शोध लेख मूल्याङ्कन के पश्चात् ही प्रकाशित किए जाते हैं। अतः विद्वान् / विदुषी लेखक / लेखिकाओं से अपेक्षा की जाती है कि वे शोध-प्रविधि पर आधारित मानकानुरूप शोध-लेखों को ही इस शोध पत्रिका में प्रकाशनार्थ प्रेषित करें।
२. गुरुकुल पत्रिका में मौलिक शोध लेखों का ही प्रकाशन सम्भव है। अतः मौलिक शोध लेखों को ही प्रेषित करें और इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालय की Site पर जाकर गुरुकुल पत्रिका के Download Section पर जाकर प्रमाणपत्र के प्रारूप को भरकर प्रस्तुत करना भी सुनिश्चित करें।
३. शोध पत्र में लेखक का निष्कर्ष मौलिक सुसंगत, प्रामाणिक एवं तथ्यों पर आधारित परम्परा से पोषित होना चाहिए, साथ ही उसमें अपने कथन अथवा निष्कर्ष की सम्पुष्टि करने के लिए न्यूनतम २० प्रमाण देना आवश्यक है।
४. इस शोधपत्रिका में अन्धविश्वास, मतवाद, पाखण्ड आदि को पोषित करने अथवा बढ़ावा देने वाले शोध-पत्रों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
५. शोध पत्र लेखकों से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे अपने शोध पत्र MS Word File में Unicode font में type कराएँ और पाद-टिप्पणियों (Footnote) के लिए Superscript का प्रयोग न करें, उसे ctrl+alt+F के माध्यम से डालें। इस प्रकार Footnote डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं होगी।
६. देवनागरी लिपि में टंकण करते समय यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि शीर्षक Unicode Font Size १६, लेखक के नाम का १५ एवं लेख का Font Size १४ तथा Footnote का Font Size १२ होना चाहिए।
७. यूनिकोड फॉण्ट में संख्या स्वाभाविक रूपेण जिस भी रूप में आ रही है कृपया उसी का प्रयोग करें। यथा- 1, 2, 3, 4, को १, २, ३, ४ आदि देवनागरी में न करें।
८. अंग्रेजी भाषा के शोध पत्र Times New Roman में Title १४, Name & Text १२ एवं Footnote ९ में ही होने चाहिए।
९. अपना शोध पत्र उपर्युक्त साइज में टाइप करके ही गुरुकुल पत्रिका की दी हुई Email-gurukulpatrika@gkv.ac.in पर ही प्रेषित करें।
१०. किसी भी शोध पत्र के Copyright का अधिकार गुरुकुलपत्रिका के पास सुरक्षित रहेगा।
११. आपके द्वारा प्रेषित शोध पत्र टाइप किए हुए १० पृष्ठ से अधिक किसी दशा में न हो।

सदस्यता शुल्क (subscription charges) -

वार्षिक - ३००० रुपये, त्रिवर्षीय - ७००० तथा पञ्चवर्षीय - १०००० रुपये।

NAME OF ACCOUNT HOLDER- REGISTRAR, GURUKULA KANGRI SAMVISHWAVIDYALAYA,
BANK NAME - PUNJAB NATIONAL BANK, A/C No.- 4063000100041261,
IFSC CODE- PUNB0406300